पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ११८

प्रधान सम्पादक
प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

सम्पादक
प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

H
294.8
B 469 I

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
NĀTHA VIDYĀPĪTHA, VARANASI

H
14·8
469 I

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ११८

प्रधान सम्पादक
प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

सम्पादक
प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
२०००

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० – ११८

प्रधान सम्पादक	:	प्रो० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'
पुस्तक	:	२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता
प्रकाशक	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी-२२१००५
दूरभाष संख्या	:	३१६५२१, ३१८०४६
फैक्स	:	०५४२-३१८०४६
प्रथम संस्करण	:	२००० ई०
मूल्य	:	२०.०० रुपये मात्र
अक्षर-सज्जा	:	सरिता कम्प्यूटर्स, औरंगाबाद, वाराणसी-१० (फोन नं० ३५९५२१)
मुद्रक	:	वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी
ISBN	:	81-86715-59-2
©	:	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Pārśwanātha Vidyāpiṭha Series No. 118

Editor	:	P
Title	:	Īk Pr na Kī
Publisher	:	Pā I.T.I., Road, Karaundi, Varanasi-221005
Telephone No.	:	316521, 318046
Fax	:	0542-318046
First Edition	:	2000
Price	:	20.00 Rs. only
Type Setting	:	Sarita Computers, Aurangabad, Varanasi. (Phone No. 359521)
Printed at	:	Vardhaman Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

Library IIAS, Shimla
H 294.8 B 469 I
00102733
00102733
18-12-2001

उपस्थापना

आज हम इक्कीसवीं शताब्दी की देहली पर खड़े हुए हैं। हमारे एक ओर बीसवीं शताब्दी के परिणाम की धरोहर है तो दूसरी ओर उज्ज्वल भविष्य की कामनाओं की गोद में तैरती हुई हमारी महत्त्वाकांक्षा। बीसवीं शती की आपाधापी में हमने जो बीज बोये हैं उसका फल/प्रतिफल आना शुरु हो चुका है और यदि यही रफ़्तार रही तो उसकी चरम परिणति क्या होगी, इसकी कल्पना हम भलीभाँति कर सकते हैं। जैनधर्म प्रारम्भ से ही प्रकृतिवादी रहा है और आज भी उसके अनुयायी सामान्यत: प्रकृति के संरक्षण/सन्तुलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। प्रकृति संरक्षण और सन्तुलन पर ही हमारा समूचा पर्यावरण आधारित है। इसलिए हमारे प्राचीन ऋषियों-महर्षियों और आचार्यों ने प्रकृति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया और उसे प्रदूषित होने से बचाया।

पारिस्थितिकी तन्त्र किंवा पर्यावरण विज्ञान एक प्रकार से प्रकृति ही है जो सजीव और निर्जीव पदार्थों के बीच एक सहयोगात्मक वातावरण की संरचना करती है। नदी, समुद्र, जंगल, गाँव आदि सभी कुछ इसकी परिधि में आ जाता है। प्रकृति के पारिस्थितिकी तन्त्र में नाईट्रोजन चक्र, जलचक्र, कार्बनचक्र आदि ऐसे चक्र हैं जिनका सम्बन्ध प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति से जुड़ा रहता है। प्रकृति भी इन चक्रों से गुजरती है। प्रकृति ही एक ऐसा तत्त्व है जो अपना भोजन स्वयं तैयार करती है। सभी शाकाहारी प्राणी प्रकृति की गोद में फूलते-फलते हैं और एक दूसरे को साथ लेते हुए अपना जीवन-यापन करते हैं। सभी जैविक और अजैविक तत्त्वों में एक सामुदायिक सम्बन्ध रहता है जिसमें कहीं वे एक साथ रहते हैं, खाते-पीते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं और वहीं प्रतिस्पर्धा के साथ ही परस्पर परोपकारिता भी होती है। प्रकृति में इस सबका सन्तुलन बना रहता है। पारिस्थितिकी तन्त्र में पेड़-पौधे ऊर्जा को संचित करते हैं और उनकी संचित ऊर्जा ही पारिस्थितिकी तन्त्र में प्रवाहित होती है।

आज मानव प्रकृति द्वारा संचित इस ऊर्जा को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। प्राचीन कालीन वन्य संस्कृति उसके हाथों कट गई है। आज वह प्रकृति की गोद से हटकर प्रकृति को ही अपनी गोद में समेटना चाहता है। प्राकृतिक सम्पदा को नष्टकर वह सारी उपभोग सामग्री को एकत्रित करने में लगा है। जंगल कटे, नहरें बिछीं, रासायनिक पदार्थों के उपयोग ने खेती की प्राकृतिक शक्ति को समाप्ति की ओर ला दिया। इससे प्राकृतिक सन्तुलन ही नहीं बिगड़ा बल्कि हमारा पर्यावरण भी प्रदूषित हो गया।

जैनधर्म प्रारम्भ से ही प्रकृतिवादी रहा है और उसने प्रकृति के संरक्षण में अहिंसा का पाठ पढ़ाया है। कदाचित् यह पहला धर्म है जिसने वनस्पति को सचेतन कहा और उसे भी कष्ट न पहुँचाने का आग्रह किया। २१वीं शताब्दी में पहुँचते-पहुँचते जैनधर्म

के इस सिद्धान्त पर यदि विश्व ने विचार नहीं किया तो प्रकृति स्वयं बदला लेगी और चारों ओर त्राहि-त्राहि मच जायेगी। विकास के नाम पर सृष्टि को जो असंतुलित किया जा रहा है उसके साथ जब तक हमारी भावानुभूति नहीं जुड़ेगी, जीवन में जब तक भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि के बीच सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टि का विकास नहीं होगा, उपभोग को संयमित कर संतुलित जीवन शैली को नहीं अपनाया जायेगा तब तक पर्यावरण को प्रदूषित होने से नहीं बचाया जा सकता। जैनधर्म ने आत्मतुला का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दिया है। उसका अनुकरण कर दूसरे के अस्तित्व को अस्वीकारा नहीं जा सकता। अन्यथा स्वयं का जीवन भी खतरे में पड़ सकता है।

हम यह मानते हैं कि आबादी की समस्या और आर्थिक विषमता ने हमें प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने को बाध्य किया है। पर क्या हम यह स्वीकार नहीं कर पायेंगे कि इन दोनों समस्यांओं की पृष्ठभूमि में हमारी मानसिकता मुख्य कारण रही है? हमने अपनी मानसिक सन्तुष्टि के लिए अपनी इच्छाओं को सीमित नहीं किया। हम अपने शरीर और धन के लिए अनपेक्षित इच्छाओं की पूर्ति करने हेतु बेतहासा दौड़ लगाते रहे। परिग्रही इच्छाओं की दौड़ ने हिंसक वृत्ति को जन्म दिया, असन्तोष पनपा, विषमता बढ़ी और रक्तपात शुरू हो गया। यदि इच्छा-परिमाण का भाव मन में रहता तो करुणा के उत्स फूटते, लोभ का आवेग सिकुड़ता, अहिंसा और मैत्री के स्वर उठते, नैतिक विशुद्धता जागती, उपभोग पर संयम का अंकुश लगता, अभय का वातावरण बनता और फिर जीवन शैली का ऐसा परिष्कार होता कि पारस्परिक विश्वास, सद्भाव, सहयोग और सह-अस्तित्व का सम्यक् वातावरण बन जाता।

हमारी परिग्रह और अधिकार की मनोवृत्ति ने अर्थ पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। अर्थ की दौड़ ने आर्थिक विकास के पंख तो लगा दिये पर मन में धार्मिकता के बीजों को अंकुरित भी नहीं होने दिया। इन्द्रिय चेतना इतनी अधिक हावी हो गई कि हम अपनी सारी आचारसंहिता को एक किनारे ढकेलकर मृगमरीचिका की घोड़ी पर सवार होकर अनन्त इच्छाओं के आकाश में विचरण करने लगे। नैतिकता और प्रामाणिकता के साथ संवेदनशीलता और करुणा की दृष्टि से हमारी निर्धनता बढ़ती गई। आर्थिक विकास अवश्य हुआ पर चेतना सूखने लगी, सपनों के नये पंख उगते रहे और हम नयी-नयी आवृत्तियों में फँसते रहे। क्रूरता और शोषण ने हिंसक शस्त्रों का निर्माण कर बुद्धि का दिवाला निकाल दिया।

बीसवीं शताब्दी के इन दशकों में सुविधावादी और शार्टकट संस्कृति ने सामाजिक विषमता को और अधिक पुष्ट किया। हमारी जैन श्रावक आचार संहिता ने जिस मानवीय चेतना को जाग्रत किया था वह इतनी अधिक अनुभूतिशून्य हो गई कि अहिंसा के संस्कार सूख गये, घृणा और अत्याचार की मानसिकता बढ़ गई और प्रेम के ढाई अक्षर भी हमारे दिमाग से निकल गये।

जैनधर्म प्रारम्भ से ही परिष्कार की बात करता रहा है। संसार कामनाओं का दास है। संसार का अर्थ है काम के वीभत्स जंगल में भटकते रहना। उसकी पूर्ति अर्थ से

अवश्य होती है पर जब तक काम और अर्थ पर अंकुश नहीं लगाया जायेगा, यह भटकना समाप्त नहीं हो सकता। जैनधर्म इस निरंकुशता को संयमित करने की मानसिकता देता है, प्रवृत्ति की शोधन-दिशा को और भी परिष्कृत करता है, सापेक्षता और समीचीनता के अर्थशास्त्र को जन्म देता है। इससे करुणा, सहिष्णुता, मृदुता, मैत्री, सामञ्जस्य और पारस्परिक विश्वास जैसे विधेयक गुणों का विकास होने लगता है तथा लोभ, घृणा, माया, मत्सर, अहं, द्वेष आदि जैसे निषेधात्मक भाव तिरोहित होने लगते हैं।

इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति जैनधर्म के मूल भाव को सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न करे। स्वाध्याय और चिन्तन की प्रवृत्ति जब तक जाग्रत नहीं होती, मानसिक तनाव कम नहीं हो सकता। सामायिक और ध्यान के सतत् प्रयोग से सामुदायिक चेतना का जागरण होगा, संवेग और आवेगों की दुनियाँ बदलेगी और भावनात्मक विकास के परिक्रमण में आत्मतुला, समता, समानता और भ्रातृत्वभाव के निर्झर फूटेंगे। तभी स्वस्थ समाज की संरचना हो सकेगी। आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास जब तक नहीं होगा, यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिष्कार भी नहीं हो सकेगा। त्याग, संयम और समन्वय की साधना जैन साधना है। चरित्र निर्माण, विशुद्धता और सामाजिक समता साध्य है और रत्नत्रय का परिपालन उसका साधन है। इन सभी यथार्थ तत्त्वों का समीकरण आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का आवाहक है। इस दृष्टि से जैनधर्म कभी भी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। शताब्दियाँ और सहस्राब्दियाँ कितनी भी गुजरती चली जायें, जैनधर्म की यथार्थपरक दृष्टि का यथावत् शाश्वत मूल्य सदैव बना रहेगा। उसके अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद जैसे सिद्धान्त संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में अपनी अहं भूमिका सदैव अदा करते रहेंगे। साम्प्रदायिक अभिनिवेश और जातिवाद का घिनौना वातावरण दूरकर स्वस्थ समाज की संरचना करना जैनधर्म का उद्देश्य रहा है। भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में सन्तुलन रखकर कटुता और संघर्षमय परिस्थिति को समतावादी वातावरण की प्रस्तुति देना उसका विशिष्ट ऐतिहासिक योगदान है। यही उसकी प्रासंगिकता है और यही उसकी विधेयात्मकता है।

हमारे पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा संयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लेने वाले सभी प्रतियोगी महानुभावों का हम हार्दिक आभार मानते हैं कि उन्होंने **'इक्कीसवीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता'** विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किये। प्राप्त सभी निबन्ध अच्छे और विचारपूर्ण थे। उनमें से पुरस्कृत निबन्धों को ही हम सम्पादित कर यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है सुधी पाठकवर्ग उसका स्वागत करेगा। अन्त में पुरस्कृत लेखकों को हमारे संस्थान-परिवार की ओर से ढेर सारी बधाइयाँ इस निवेदन के साथ कि आगामी प्रतियोगिताओं में भी वे सहभागी बनें और जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार में हमें सहयोग दें।

भूपेन्द्रनाथ जैन
सचिव

भागचन्द्र जैन
निदेशक

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

*कु० नूतन सुरेशचन्द बाफना**

भारत की त्याग प्रधान संस्कृति है तो पश्चिम की भोग प्रधान। यहां की संस्कृति का आदर्श राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी हैं। राम की मर्यादा, कृष्ण का कर्मयोग, महावीर की अहिंसा और अनेकान्तवाद, बुद्ध की करुणा, गांधी की धर्मानुप्राणित राजनीति और सत्य का प्रयोग ही हमारे जीवन मूल्य हैं। 'दयतां, दीयतां, दम्यताम्' इस सूत्र में जीवन मूल्यों का पूर्ण सार परिलक्षित होता है। मानव की क्रूर प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए दया की आवश्यकता है। संग्रहवृत्ति को कम या समाप्त करने के लिए दान की आवश्यकता और काम भोगों पर नियन्त्रण के लिये दमन की आवश्यकता है। दया, दान और दमन शब्दों में अहिंसा, करुणा, प्रेम, परोपकार, स्नेह, सौजन्य आदि जीवन मूल्यों की सहज स्पष्ट अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है।

धर्म एक तेजस्वी तत्त्व है। धर्म वह तत्त्व है, जो आत्मा को शाश्वत सुखों की राह बतलाता है। लोकजीवन में शान्ति, समता और परलोक में सुख एवं शान्ति जिस कर्म से प्राप्त होती है, उसे वस्तुत: धर्म कहा गया है। धर्म आत्मा की शुभ परिणति है। अहिंसा, संयम, तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जन्म-मरण की वेगवती धारा में बहते-बहते अनन्त प्राणियों के लिए धर्म दीप, प्रतिष्ठा, गति तथा उत्तम शरण है। सिद्धान्त और संस्कृति धर्म के दो मुख्य रूप हैं। जो सद्विचार जीवन में सफलतापूर्वक चरितार्थ हो जाते हैं, वस्तुत: वे कालान्तर में सिद्धान्त बन जाते हैं। इस प्रकार धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष सर्वथा ज्ञान और विज्ञान से सम्बद्ध होता है।

आत्मकल्याण के लिए धर्माराधना एवं उपासना की परमावश्यकता होती है। जैनधर्म सच्चा धर्म है। जैनधर्म का अर्थ है- जिन भगवान् द्वारा कहा हुआ धर्म। जिन अर्थात् जो राग-द्वेष को जीतकर पूर्ण पवित्र एवं निर्मल हो गये हैं, उन्हें जिन भगवान् कहते हैं। धर्म शब्द जितना व्यापक है उतनी ही विभिन्न है उसकी परिभाषाएँ। अत: धर्म की शुद्ध और सही परिभाषा समझना कठिन हो गया है। 'धर्म क्या वस्तु है तथा धर्म किसे कहते हैं' यह प्रश्न आज बड़ा ही गम्भीर हो गया है। भारतवर्ष के जितने

---

* पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध प्रतियोगिता में 'अ' वर्ग में प्रथम पुरस्कार विजेता; पता-रसिकलाल पटेल नगर, प्लाट नं० ५८, मु०पो० सिरपुर, जिला-धूलिया, महाराष्ट्र.

भी मत, पंथ या सम्प्रदाय हैं सभी ने उक्त प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है। किसी ने किसी बात में, बात को ही धर्म माना है। सभी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। वैदिक परम्परा वाले कहते हैं कि यज्ञ करना धर्म है, पौराणिक धर्म में भगवान् की भक्ति करना धर्म है और कितने उदाहरण दिये जाएँ; सब धर्म का स्थूल रूप जनता के सामने रख रहे हैं। धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का दर्शन वे नहीं कर पाते। जैनधर्म का सूक्ष्म चिन्तन संसार में प्रसिद्ध है। वह वस्तु के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नहीं देता, जितना उसके सूक्ष्म रूप पर देता है। जैनधर्म कहता है— 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु का निज स्वभाव ही धर्म है। धर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं है। वस्तु का जो मूल स्वभाव है, स्वरूप है, वही धर्म है और जो पर-वस्तु के संयोग से बिगड़ा हुआ स्वभाव है, वह अधर्म हैं। अब हमें चिन्तन करना है कि हम आत्मा हैं, हमारा स्वभाव या धर्म क्या है? जो आत्मा का स्वभाव होगा, वही धर्म सच्चा धर्म होगा। उसी से वास्तविक कल्याण हो सकता है। आत्मा का धर्म सत्, चित् और आनन्द है। सत् का अर्थ सत्य है, जो कभी मिथ्या न हो सके। चित् अर्थात् चेतना है, ज्ञान है, जो कभी जड़स्वरूप न हो सके। आनन्द का अर्थ सुख है, जो कभी दुःख रूप न हो सके। आत्मा का अपना धर्म यही है। इसके विपरीत असली निज धर्म नहीं है वह अधर्म है। ऊपर की पंक्तियों में आत्मा का जो धर्म बताया है वही जैन-आगमों की भाषा में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहलाता है। इन्हीं को 'रत्नत्रय' कहते हैं। आत्मा की यही सही अन्तरंग विभूति और सम्पत्ति है। जब आत्मा विभाव परिणति को त्याग कर स्वभाव परिणति में आती है तो 'रत्नत्रय' को अपनाती है। अस्तु, आत्मा का सच्चा धर्म ही 'रत्नत्रय' है।

सम्यग्दर्शन— "आत्मा का अस्तित्व है, यह संसारी आत्मा कर्मों से बंधा हुआ है" और एक दिन वह बन्धन से मुक्त होकर अजर-अमर परमात्मा भी हो सकता है। इस प्रकार के दृढ़ आत्मविश्वास का नाम ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन द्वारा हीनता और दीनता के भाव क्षीण हो जाते हैं एवं आत्मशक्ति में अटल विश्वास का भाव जागृत हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान— जड़ और चैतन्य पदार्थों के भेद का ज्ञान करना और संसार के कारणभूत राग-द्वेष तथा उनसे मोक्ष एवं उसके सम्यक् दर्शनादि साधनों का भली-भाँति मनन, चिन्तन करना सम्यक् ज्ञान है। सांसारिक दृष्टि से कितना ही बड़ा विद्वान् क्यों न हो यदि उसका ज्ञान मोह-माया के बन्धनों को ढीला नहीं करता है तो वह ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं कहला सकता। इस ज्ञान के लिए आध्यात्मिक चेतना एवं पवित्र उद्देश्य की ही अपेक्षा है। मोक्षाभिमुखी आत्म चेतना ही वस्तुतः सम्यक् ज्ञान है।

सम्यग्चारित्र— सम्यक् का अर्थ है सच्चा और चारित्र का अर्थ है आचरण। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन करना सम्यक् चारित्र कहलाता है। जैनधर्म चारित्र प्रधान धर्म है। वह केवल भावनाओं और संकल्पों

के भरोसे ही नहीं बैठा रहता। उचित पुरुषार्थ ही विकास का मार्ग है, सिद्धि का सोपान है। अतएव विश्वास और ज्ञान के अनुसार अहिंसा एवं सत्य की साधना करना ही सम्यक् चारित्र है।

अनादिकाल से भारत में समय-समय पर अनेकानेक महापुरुषों का अवतरण हुआ है। इसलिए भारत की पावन वसुन्धरा 'धर्मप्रधान' वसुधा कहलाती है। भारत मां की पावन गोद में जिन-जिन भव्य, दिव्यात्माओं ने जन्म लिया, उन्होंने धर्म का सिंहनाद करके सुप्त-सांसारिक आत्माओं को प्रबोधित किया है। संसार-अर्णव से ऊपर उठकर सच्चिदानन्द में विलय होने का मार्ग प्रदर्शित किया है। इस प्रकार धर्म की पावन गंगा अनादिकाल से भारत भूमि में प्रवाहित होती रही है। अत: भारत का कण-कण धर्म के सुवास से सुवासित है। भारत की वायु धर्म की पावनता से सुगन्धित है। यहाँ का समग्र वातावरण ही धर्ममय है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने धर्म के नानारूपों का अवलोकन कर इसे धर्म का उद्यान कहा है। एक विचारक का कहना है कि "भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ पर हर प्रकार के धर्म की आराधना की और देखी जा सकती है।" यहाँ हर धर्म के पालक एक साथ बैठे हुए देखे जा सकते हैं। वैसे-जैसे चिड़ियाघर में नानाप्रकार के पशु और पक्षी देखे जा सकते हैं, वैसे ही भारतवर्ष में नाना प्रकार के धर्म एवं धर्मनेता व धर्माराधन की विधि देखी जा सकती है। निष्कर्ष है कि विश्वभर में भारत ही एक ऐसा देश है जहां सर्वाधिक धर्मोपासना होती है एवं अधिकांश लोगों का मानना है कि 'जैनधर्म' ही सबसे श्रेष्ठ और उत्तम है। सभी धर्मों का राजा 'जैनधर्म' ही है। इसमें नाममात्र भी सन्देह नहीं। जहाँ भारतवर्ष में धार्मिक वृत्ति के कारण ही इसकी महिमा एवं गरिमा है, वहीं उसमें अन्धानुकरण भी गहराई से घुस चुका है। आपने भेड़ों के समूह को देखा होगा। एक के पीछे एक चलती हैं। वैसे ही कई बार धर्मात्माओं का एक क्रम बन जाता है। अन्धविश्वास जब तक चलेगा तब तक वास्तविक धर्म भी नहीं किया जा सकता। अत: अन्धविश्वास का त्याग करके धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझना होगा। यथार्थ धर्म क्या है? इसे जानने की आवश्यकता है। वैसे तो धर्म शब्द को लेकर धर्माचार्यों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं; किन्तु सभी अर्थों का जो सार है वह हमें आत्मसात् करना है। वह सार भगवान् महावीर की वाणी में ही झलकता है— "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो"। यानी वही धर्म उत्कृष्ट मंगल है जिसमें अहिंसा, संयम और तप समाहित है। जिस धर्म में अहिंसा, सत्य, संयम और तप नहीं है, वह धर्म अधर्म है, धर्म कहलाने का अधिकारी नहीं है। ज्ञातृपुत्र महावीर ने किसी बाह्य-क्रिया को धर्म न कहकर अहिंसादि को धर्म बतलाया है। धर्म के प्रताप से प्रचण्ड ज्वाला भी हिमवत् शीतल हो जाती है। सर्प, सिंह भी उपशान्त हो जाते हैं। जीव आधि-व्याधि-उपाधि से मुक्त हो जाता है। हृदय-कमल खिल जाता है, मनचाहा मिल जाता है। अनचाहा तिरोहित हो जाता है—

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यंच समान।।

जो व्यक्ति धार्मिक होता है, जिसकी धर्म पर श्रद्धा होती है वह बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सुगमता से पार कर जाता है। इसी सत्य को प्रतिपादित कर दिया है जिनदत्त श्रावक ने। उसका परिवार कितना धर्मनिष्ठ था। उन पर न जाने कितनी घोर विपत्तियाँ आयीं, परन्तु धर्म के प्रभाव से उनके सारे कष्ट दूर हो गए। ऐसा एक परिवार नहीं है, अनेक परिवारों के सारे कष्ट दूर होते चले गए।

'जैनत्व' आदर्श जीवन का प्रतीक है। जैन कोई जाति अथवा सम्प्रदाय नहीं, संयम व नियमपूर्वक जीवन जीने वाला ही जैन है। जनसाधारण में जैनों की पहचान उनके अपने आदर्श जीवन को लेकर ही होती रही है। वर्तमान में हम जैन समाज में जन्म पाकर जैन तो कहलाते हैं। परन्तु 'जैनत्व' का अभाव होता जा रहा है, आज हमारी जीवनशैली व प्रवृत्ति में, कथनी व करनी में स्पष्ट अन्तर दिखायी दे रहा है। हम मन्दिर में प्रवेश करते समय ललाट पर तिलक लगाते हैं। जिसका आशय होता है, प्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य करना। अत: आम जनता में माथे पर तिलक लगाना श्रावक की विश्वसनीयता का प्रतीक माना जाता है, परन्तु इस विषमकाल में जैनों की स्थिति में कई प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हो रहे हैं। जैनधर्म सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह व अनेकान्त के सिद्धान्त पर आधारित है व जहाँ जीवन इन सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है वहाँ 'जैनत्व' विद्यमान है। जैन जीवन में हित, मित, सादगी व सहिष्णुता की झलक होती है तथा सर्वदा गुणानुरागी व अच्छाई को अपनाने वाला, विनम्र वात्सल्य एवं स्नेहयुक्त जीवन जीने का जो पूर्ण अभ्यासी होता है वही आचरण से जैन है। इस कलियुग के प्रभाव से 'जैनत्व' जो आदर्श जीवन का प्रतीक है, वह जैनों की दिनचर्या से प्राय: लुप्त होता जा रहा है। फैशन व व्यसन की प्रवृत्ति जो आधुनिक सभ्यता की देन है, समाज में बढ़ रही है। साथ ही भौतिकवादी पाश्चात्य संस्कृति सर्वत्र हावी हो रही हैं। फलस्वरूप घटते संस्कार व बढ़ती विकृतियाँ सभी क्षेत्रों में फैल रही हैं। भारतीय संस्कृति में ''सत्यं शिवं सुन्दरम्'' का पाठ पढ़ाकर धर्म व्यक्ति और समाज के लिए मार्गदर्शक का काम करती थी। **मम्मी को डैडी से प्यार हो गया है, आयो डिस्को भैय्या खिसको** ऐसे गीत आज छोटे बच्चों से सुनते हैं तो बड़ा अजीब-सा लगता है। कहाँ भक्ति के तपोवन की शकुन्तला, मीरा पग घुंघरु बांध कर नाची थी और कहाँ युवक-युवतियों का डिस्को डांस नचा रहा है। सत्संग, स्वाध्याय में जो समय बीतना चाहिए था वह आज सिनेमा व टी०वी० देखने और क्लबों, होटलों में अधिक बीतता है। रामायण, महाभारत, गीता का स्थान आज फुटपाथी साहित्य ने ले लिया है। सूर, तुलसी, मीरा, आनन्दघन के पदों के बजाय कण्ठ में शराब, कबाब के गीत थिरकते हैं। परिणाम यही हो रहा है कि आज बच्चे साहसी कम और हिंसक प्रवृत्ति के क्रोधी, चिड़चिड़े अधिक

बन रहे हैं। ज्ञान के साथ प्रेम का जो रूप प्रकट होना चाहिए वह आज दिखायी नहीं दे रहा है। आज ज्ञान के साथ जुड़ा है भार, अहङ्कार। जब तक भार आभार नहीं बनता, अहङ्कार का भाव समाप्त नहीं होता तब तक जीवन का विकास नहीं होता। आज व्यक्ति 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त का अनुगामी बन गया है। 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त विस्मृत कर बैठा है। आज तो वह चाहता है— पेट भी भरो और साथ ही पेटी भी। कामना पूर्ति और भोगलिप्सा की भावना ने मानव को कुण्ठित कर दिया है। आज इसके इर्द-गिर्द जो प्रकृति और समाज है, उसके प्रति लगाव के बजाय बिखराव और रक्षा के बजाय शोषण का भाव पनप रहा है। परिणामस्वरूप प्रदूषण की भयंकर समस्या आज हमारे सामने आने लगी है।

जहाँ धर्म है वहाँ शान्ति है, परम सुख है। महावीर ने इस अहिंसा की अतिसूक्ष्म व्याख्या की है जो आज के वैज्ञानिक युग में विश्व में सर्वत्र मान्य हो रही है। अहिंसा ही धर्म है, वही शान्ति की नींव है।

महात्माजी ने कहा था—

''धर्म नहीं-हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन।

धर्म चित्त की शुद्धता, आत्म शान्ति सुख चैन।।''

धर्म की नीव सत्य और अहिंसा पर आधारित है जो सभी को मान्य है, परन्तु गांधीजी ने अपने जीवन में मात्र इस सिद्धान्त को माना ही नहीं बल्कि जीवन व राजनीति में भी पूर्ण रूप से अपनाया तथा विश्व को अहिंसा के अद्वितीय सिद्धान्त का परिचय दिया। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि धर्म वहाँ है जहाँ हिंसा का त्याग व नीति-न्याय का अनुसरण होता हो। सभी महापुरुषों का कथन अनुभव पर आधारित होने से जनसाधारण के लिए मार्गदर्शक है। स्वामी विवेकानन्दजी ने अमेरिका में एक बार कहा था कि अधिकतर भारतीयों की गरीबी का एक कारण है उनके अधिकाधिक उत्सव, अनुष्ठान एवं त्यौहार पर होने वाला अनावश्यक खर्च, जो हकीकत है। वर्तमान समय में सामाजिक व धार्मिक क्षेत्रों में दिखावे की प्रवृत्ति कितनी बढ़ गयी है, हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इन सारी बातों पर गहराई से चिन्तन करने की आवश्यकता है। महापुरुष कहते हैं— ''संसार माया नहीं, कड़वा यथार्थ है।'' यथार्थ को ही स्वीकार करना जैनधर्म है। हमारे प्रबल पुण्योदय से हमें यह दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। हमारा परम सौभाग्य है कि इस मनुष्य भव को प्राप्त करने के साथ ही हमें उत्तम कुल, श्रेष्ठ गुरुओं का भी सान्निध्य, धर्म श्रवण करने के सुअवसर और धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त हुई है। अन्यथा हम ऐसे मनुष्यों को भी देखते हैं जिनका जीवन पशुवत् होता है, नाटकीय होता है। यही वह स्थिति है जब हम में ज्ञान है, क्रियाशक्ति है, धर्म के सही स्वरूप को समझने एवं मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने

का प्रयास हम कर सकते हैं। देवयोनि में कितने ही भौतिक सुख हों लेकिन वहाँ भी जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए उसे भी मनुष्य जन्म को ग्रहण करना होता है। जैसे राजाओं में चक्रवर्ती, देवों में इन्द्र, पशुओं में सिंह और पर्वतों में मेरु पर्वत श्रेष्ठ है उसी प्रकार सभी योनि में मनुष्ययोनि श्रेष्ठ है। मनुष्य चाहे किसी भी क्षेत्र में कार्य करता हो चाहे वह सामाजिक हो या आध्यात्मिक; हमारा लक्ष्य एक होता है— सुख की प्राप्ति। हम सुख वहाँ ढूँढ़ रहे हैं जहाँ वह है ही नहीं, हमारे लिए दिशा-परिवर्तन आवश्यक है। बाहरी सुख केवल एक बच्चे के खिलौने की तरह है। खिलौने से बालक जब तक खेलता है— सुख है और जैसे ही वह टूटता है वही सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है। खिलौने का टूटना निश्चित है। यह बाहरी सुख जितना भी है, केवल सुखाभास है। भगवान् महावीर ने कहा है, ये समस्त सांसारिक सुख शहद में लिपटी हुई तलवार की तरह हैं। चाटने पर क्षणिक सुख! लेकिन इसमें जीभ का कटना और भयंकर वेदना निश्चित है। महान् योगी भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक में लिखा है कि— "भोग में रोग का भय है, कुल में किसी की मृत्यु का भय है, धन में चोर का भय है, युद्ध में पराजय का भय है, परीक्षा में असफलता का भय है।" इस संसार में प्रत्येक वस्तु भययुक्त है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि यदि हमें भयमुक्त सच्चे सुख की प्राप्ति करनी है तो उसका एकमात्र मार्ग है— धर्म। यह धर्म क्या है और कैसे हम धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं, इसका चिन्तन हमें करना है? धर्म के स्वरूप का मूल चिन्तन है— हमारी आत्मा के निज स्वरूप को प्राप्त करना। वैभाविक दशा से स्वाभाविक दशा में लौटना। धर्म का यह मार्ग बहुत स्पष्ट और साफ-सुथरा है। लेकिन इस मार्ग पर हमें ही चलना होगा। यात्रा हमें ही करनी पड़ेगी। हमारी मान्यता के अनुसार कोई भी भगवान् हमें अंगुली पकड़कर ऊपर नहीं उठा सकेगा। हमारे अनेकानेक महापुरुषों ने उस मार्ग पर चलकर हमारे लिये मार्ग प्रशस्त किया है। मोक्ष अवस्था को प्राप्त किया है और वे हमें भी उस मार्ग पर चलने की सदैव प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। उस परम पवित्र मुक्त अवस्था को प्राप्त करने का सुअवसर मिला है। परम पवित्र मुक्त अवस्था को प्राप्त करने के मार्ग अनेक हैं, लेकिन लक्ष्य सबका एक ही है। "मोक्ष आत्मा की धर्ममुक्त पवित्रतम दशा है।" जैन धर्म के अनुसार यह मार्ग बहुत सरल और स्पष्ट है। जीवन में पाँच व्रतों का पालन और चार कषायों का त्याग और इनकी उत्पत्ति के कारण राग एवं द्वेष से मुक्ति। धर्म और सदाचार के मार्ग पर चलने वालों को लाभ अवश्य मिलता है। हाँ, यह हो सकता है कि कभी-कभी प्रत्यक्ष में कोई भौतिक लाभ नहीं मिले; किन्तु जो आध्यात्मिक लाभ की अनुभूति और उपलब्धि उन्हें होती है उसकी तुलना में संसार का भौतिक वैभव कुछ भी नहीं है। सबसे पहले मन की शान्ति का अनुभव होना, आन्तरिक प्रसन्नता और निर्भयता का उल्लास प्रकट होना धर्म का प्रत्यक्ष लाभ

है। कहा जाता है— धन जीवन का आवश्यक पहलू है। धन के बिना तन-मन के अन्य धर्मों का पालन भी नहीं हो पाता। किन्तु धन पाने के लिए मनुष्य सब धर्मों को तिलांजलि देने पर तुला हुआ है। इस परिग्रह के पर्दे के पीछे दो बार रोटी खाने का दृश्य नहीं है। इस पर्दे के पीछे अपनी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाना है। अनेक लोग अपनी प्रतिष्ठा को बरकरार रखने के लिए पुलिस के हाथ गरम करते हैं। उनकी सारी कमाई वकील और डॉक्टर की झोली में चली जाती है। वे कानून एवं किस्मत के साथ भगवान् पर भी दोष मढ़ने में पीछे नहीं रहते। अनेक लोग इस धन के बल-बूते पर भोग विलास में डूब जाते हैं और फिर एड्स के शिकार होते हैं। यह सारा चक्र परिग्रह के पहिये के आस-पास घूमता रहता है। इस परिग्रह के पर्दे के पीछे एक पारदर्शी पर्दा अपरिग्रह का है।अपरिग्रह की पगडण्डी पर चलने वाला दिखावटी धर्म की चादर नहीं ओढ़ता, उसका स्वभाव नम्र होता है। वह दानशील भले ही न हो पर आध्यात्मिक होता है और सभी का प्रिय बन जाता है। उसका अन्तर्मन कांच की तरह साफ होता है। वह जीवन के प्रत्येक पहलू को अनेकान्तवाद के आईने में देखता है। मत-मतान्तर को अनेक दृष्टियों से देखता है। उसकी क्षमता प्रत्येक वस्तु को अनन्त दृष्टि से देखने में पारङ्गत हो जाती है। उसका विराट स्वरूप अनन्त धर्मात्मक होता है। अपरिग्रह की छाँव तले जीने वाला व्यक्ति भले ही साधु-साध्वी का चोला न भी पहने किन्तु उसकी दैनिक चर्या सात्विक होती है। खानपान में गरिष्ठ पदार्थों का समन्वय न होने से वह स्वस्थ रहता है। यद्यपि परिग्रह का अपना न्यारा सुख हो सकता है। इसके बलबूते पर राजनैतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। मगर इस सुख के पीछे उसकी नींद हराम हो जाती है। उसे प्रतिक्षण भय बना ही रहता है। वह अपने गुनाहों को छिपाने के लिए दानवीर का चोला भी पहनता है लेकिन हृदय की धड़कन सब चौपट कर देती है। इस परिग्रह को हम शहद का छत्ता भी कह सकते हैं। परलोक सुधारने का सपना समाप्त हो जाता है। इस लोक की चिन्ता उसे मगरमच्छ की तरह खा-खा कर नोंच डालती है। जो लोकशास्त्र और प्रवचन को हृदयंगम करते हैं वे घाटी के पहले ही अपरिग्रह की साइकिल पर पैडल लगाकर इस मनुष्य जीवन की घाटी पार करने में सफलता हासिल कर लेते हैं। मैं ऐसे लोगों का ध्यान ही आकर्षित करना चाहती हूँ, उन्हें स्मरण दिलाना चाहती हूँ कि संसार के सभी धर्मों ने अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ कहा है। जिस प्रकार समुद्र का खारा पानी सूर्य की गर्मी पाकर वाष्पित हो जाता है फिर सभी प्राणियों को अमृततुल्य पानी मिल जाता है वैसे ही हिंसा और परिग्रह के सारे सागर में से अहिंसा का झरना जब झरता है तब अनेक आत्मायें उसके शीतल जलबिन्दु से अपने दैहिक और भौतिक ताप मिटाती रहती हैं। यह तो मनुष्य की दूर दृष्टि का कमाल ही हो सकता है कि वह कम पढ़े, कम सुने, मन्दिर की शरण में भी भले ही न जाये मगर अपने हृदयरूपी झरने से अहिंसा का झरना तो सतत् बहाता रहे।

'अनेकान्तवाद' जैन दर्शन की आधारशिला है। जैन तत्त्व ज्ञान का महल इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर टिका है। वास्तव में अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्राण है। जैन दर्शन में जब भी जो बात कही गई है वह अनेकान्तवाद की कसौटी पर अच्छी तरह जाँच-परख करके ही कही है। अनेकान्तवाद दो शब्दों से बना है। 'अनेक-अन्त' जिसका अर्थ है वस्तु में अनेक धर्मों के समूह को मानना। कहा भी गया है — "अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन् वादे, सः अनेकान्तवादः"। आज का युग अन्वेषण एवं परीक्षण का है। इस वैचारिक परीक्षण में अनेकान्तवाद का स्थान सर्वोपरि है। अनेकान्तवाद की आवश्यकता आज सारे विश्व को है। आज के सन्दर्भ में अनेकान्तवाद की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लग गया है कि क्या अनेकान्तवाद आज की तमाम समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है, जहाँ तक मेरी धारणा है— अनेकान्तवाद जितना प्रासंगिक महावीर के काल में था उससे भी कहीं ज्यादा प्रासंगिक आज के सन्दर्भ में हो गया है। अनेकान्तवाद ही एक ऐसा मूल मन्त्र है जो आज के सभी धार्मिक उलझनों को सुलझा सकता है। यही विश्व शान्ति का सबसे सुगम एवं श्रेष्ठतम उपाय है।

प्रकृति सुरम्य है, सुखदायी है, स्वास्थ्यप्रद है, लाभकारी और जीवनदायी है। इसलिए प्रकृति की पूजा की जाती रही है। हमारे महापुरुषों ने हजारों वर्ष पहले पर्यावरण को सन्तुलित रखा था। व्यक्ति न बिगड़े, पर्यावरण में प्रदूषण न आवे, वह सन्तुलित रहे इसलिए जैनधर्म में बुरी आदतों से दूर रहने के लिए जोर दिया गया है। इन बुरी आदतों को सात नामों से वर्गीकृत किया एवं सप्तकुव्यसन की संज्ञा दी है। इनसे पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ रहा है। मांस खाने वालों के कारण पशुधन समाप्त हो रहा है। दूध, दही, मक्खन देने वाली हमारी गौमाता सहस्त्रों की संख्या में प्रतिदिन काटी जाती है जिससे स्वस्थ गोधन खत्म हो रहा है। जीवों का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध है। इस संसार में जितने भी जीव हैं वे हमारे प्रकृति के पर्यावरण में सहायक हैं। महावीर ने हमें बताया, समझाया "सत्वे जीवावि इच्छन्ति, जीविउं न भरिज्जीव"। अतः "एवं खलु णाणिणो सारं, जनं हिंसति किंचण" ज्ञान का सार यही है कि किसी जीव की हिंसा मत करो। वनस्पति जीवात्मा है। चैतन्य है यह बात हमारे ही भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने साबित की और संसार ने मानी। इन पाँच स्थावरों का हमारे भूमण्डल पर बहुत प्रभाव है। जैन जीवन पद्धति हमें सिखाती है कि हम अपनी आवश्कता न बढ़ायें। संग्रह प्रवृत्ति को छोड़ें। किसी के प्रति हास्य-व्यंग्य करना आदि जैन जीवन में वर्जित है। यह लोभ ही है जिसके कारण भूमण्डल का पर्यावरण भयंकर रूप से प्रदूषित हो रहा है। वृक्षों को बेहद काटा जा रहा है। वृक्षों के अभाव में वर्षा की औसत कम पड़ रही है। पीने के पानी का भी अन्य क्षेत्रों में अभाव हो गया है। पानी की कमी होने पर भी पानी की मितव्ययता का ध्यान नहीं रखा जा रहा है। भारतदेश के किसी भी नगर या गांव में जाइये। मार्ग, सड़कें पानी से भरी मिलती हैं। कई बार मार्ग भी

अवरुद्ध हो जाते हैं। मच्छरों की उत्पत्ति बढ़ रही है जिससे मलेरिया व अन्य बीमारियों का प्रकोप बढ़ गया है। शहरों से फैक्ट्रियों व मिलों का धुँआ चौबीस घण्टे निकलता रहता है। अब तो समस्या इतनी बढ़ गई है कि सूर्य की ओजोन, जो हमें सूर्य की आग से बचाती है, पतली पड़ रही है। इस पर्त में छेद होने की सम्भावना है। प्रकृति, पर्यावरण को दूषित होने से बचाने के लिए जैनधर्म द्वारा बतायी गयी जीवन पद्धति को स्वीकार करने के सिवाय कोई अन्य उपाय नहीं है। उत्तराध्ययन में कहा है "धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रशस्त लेश्या मेरा निर्मल घाट है जहाँ स्नान कर आत्मा विशुद्ध होती है।" जैनधर्म अनादि है, शाश्वत हैं। ऐसा कोई समय नहीं जबकि जैनधर्म नहीं रहा और ऐसा समय नहीं होगा कि जैनधर्म नहीं रहेगा। इस प्रकार जैनधर्म दृढ़ है, अक्षय अवयव है और वर्तमान सन्दर्भ में पूर्ण प्रासंगिक है।

●

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

*दीप्ति जैन पिराका**

जैनधर्म

जैनधर्म का तात्पर्य है जिन (इन्द्रियों एवं कर्मों के विजेता) का धर्म। दूसरे शब्दों में जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है अर्थात् वश में कर लिया है। प्रत्येक जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार संसार भ्रमण करता है तथा सुख-दुःख को भोगता है। जैन मान्यतानुसार भगवान् को कर्ता, पालक एवं हर्ता नहीं माना गया है। मनुष्य स्वयं अपने कर्मों को अपनी तपाग्नि से नष्ट करता है और अपनी आत्मा को विशुद्ध रूप में उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे दूध को बिलोने से घी प्राप्त करता है। भारत में न केवल आज से बल्कि युगों से जैन धर्म की गाथाएँ चली आ रही हैं। जैन धर्म की पावन रज को मेरा मन भी वन्दन करता है और सूरज भी अपनी किरणों से इसका अभिनन्दन करता है।

यह भारत आज नहीं युगों से जैन धर्म की गाथा कहता है।
यहाँ गंगा, यमुना, सरस्वती नदी का पावन जल बहता है।।
जैनधर्म रूपी चन्दन रज को मेरा मन वन्दन करता है।
सूरज भी अपनी किरणों से इसका अभिनन्दन करता है।।

जैनधर्म एक मार्ग है, साधन है। यह वह धर्म है जो इन्सान को ही नहीं अपितु पशु-पक्षी एवं प्रत्येक जीव के प्रति अपनत्व भाव दर्शाता एवं सिखाता और आत्मकल्याण का मार्ग बताता है। जैनधर्म वह धर्म है जो मनुष्य को चिन्तन करवाये कि तू कहाँ से आया है, तुझे क्या करना है, क्या नहीं करना है तथा अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, शील, अपरिग्रह, त्याग, सहिष्णुता का पालन एवं रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र) की प्राप्ति करना। इस प्रकार जो धर्म आत्मा को परमात्मा बनाता है वह जैनधर्म है। जैनधर्म भावना प्रधान है। जैनधर्मानुसार प्राणी के कर्मों का बन्ध उसकी भावना के अनुसार होता है अत: आत्मा के स्वभाव को बतलाने वाला धर्म जैन धर्म है।

---

*. पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध प्रतियोगिता में 'अ' वर्ग में द्वितीय पुरस्कार विजेता; पता-पिराका ट्रेडिंग कम्पनी, तबेला रोड, सीकर, राजस्थान.

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासंगिकता इतनी अधिक हो जाएगी अर्थात् जैन धर्म इतना अधिक प्रखर रूप धारण कर लेगा कि शेर और गाय भी वैर भाव तज कर एक घाट पर जल पीते हुए नजर आयेंगे और इसी जैन धर्म के प्रभाव से सर्प और नेवला जैसे क्रूर पशु भी एक साथ जीते हुए देखे जायेंगे। २१वीं शताब्दी में जैन धर्म का बहुत अधिक प्रभाव मानव मन पर निश्चित रूप से पड़ेगा।

जैन मतानुयायियों के अनुसार जैन धर्म अनादि काल से है। तृतीय काल की समाप्ति और चतुर्थ काल का प्रारम्भ अर्थात् भोगभूमि समाप्त हुई और कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ तब भगवान् ऋषभदेव से जैन धर्म प्रारम्भ हुआ। भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर हैं तथा भगवान् महावीर अन्तिम चौबीसवें तीर्थङ्कर हैं। इन तीर्थङ्करों ने अपनी इन्द्रियों को जीता, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की तथा परमोत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त किया। अपनी दिव्यध्वनि से जैनधर्म द्वारा समाज की शंकाओं को दूर किया। उनको सद्जीवन व्यतीत करने का एवं आत्मकल्याण करने का मार्ग जैन धर्म द्वारा दिखाया। इसके बाद आयु पूर्ण होने पर निर्वाण प्राप्त किया। जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष का धर्म नहीं बल्कि प्राणिमात्र के लिए हितकारी धर्म है। इसीलिए इसे सार्वभौम धर्म भी कहते हैं। कुछ लोग इस धर्म के रहस्य को जाने बिना ही जैन मतावलम्बियों को नास्तिक कह देते हैं; किन्तु ऐसा नहीं है। जैन धर्म पूर्ण रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। जैन धर्म ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानता, क्योंकि वहाँ अरिहन्त-सिद्ध परमात्मारूपी ईश्वर को पूर्णरूपेण वीतरागी माना गया है और वीतरागी आत्माएँ कभी किसी का हित-अहित नहीं करतीं। कर्मसिद्धान्त की नींव पर टिका यह सर्वोदय धर्म प्रत्येक प्राणी के कर्म को ही उसका ब्रह्मा-विधाता आदि मानता है। जैन धर्म का मूल सिद्धान्त अहिंसा-दया है।

२१वीं शताब्दी में जैन धर्म इतना अधिक वन्दनीय हो जाएगा कि इसके गुणों का वर्णन करना भी अत्यन्त मुश्किल हो जाएगा, क्योंकि इसके गुण हैं अपरम्पार और न ही मुझमें इतना ज्ञान है कि मैं इसके गुणों का अभिराम (गान) कर सकूँ। हाँ, इतना जरूर लिखूंगी कि २१वीं शताब्दी में सभी लोग तन-मन-धन से भक्तिवश इसके गुण गाने लगेंगे।

२१वीं शताब्दी में जैन धर्म की महिमा जन-जन में इस तरह फैल जाएगी कि जो भी इसकी महिमा को गावेगा उसके सभी दुःख दूर हो जाएगें और इसके ही प्रभाव से वे हर प्रकार के सुख को पायेंगे।

२०वीं शताब्दी अर्थात् पञ्चमकाल में जैनधर्म को आगे बढ़ाने का पूरा श्रेय इस युग के ऋषि-मुनियों को दिया जाता है, क्योंकि उन्होंने ही अपने त्याग, तपस्या, साधना और अपने मुखारविन्द के अनमोल प्रवचनों और उपदेशों द्वारा ही जैनधर्म को मजबूत

बनाये रखा है और शास्त्रों के उपदेशों को जन-जन में फैलाकर जैन धर्म की नींव बनाये रखी है। पञ्चमकाल में ऋषियों-मुनियों का साथ मिलना ही हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है। धर्म के लिए गुरु का होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि गुरु ही हमारे सच्चे मार्गदर्शक होते हैं।

२१वीं शताब्दी में ऋषियों और मुनियों की बदौलत जैनधर्म का प्रभाव और भी अधिक उत्कृष्ट हो जाएगा। जैनधर्म अपने आप में इतना अधिक पवित्र है कि इसकी पावनता को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। जैनधर्म में सतयुग से कलियुग तक की जो शक्ति है वो साफ-साफ दिख रही है। जैन धर्म बनाये रखने के लिए पुरुष और स्त्री ने भी अपना कर्तव्य निभाया है। जैनधर्म एक ऐसा धर्म है जिसने भारतीय संस्कृति के महत्त्व को सारे जग में बतलाया है।

२१वीं शताब्दी में जैन धर्म की अर्थात् सार्वभौम धर्म की जय-जयकार इस तरह गूँजने लगेगी कि चारों तरफ से हमें सिर्फ इसकी जय-जयकार ही सुनाई देगी। सब लोग खुशी में मग्न होकर यही कहने लगेंगे कि आज खुशी है, हमें खुशी है, तुम्हें खुशी है। उस समय की खुशियाँ अपरम्पार होगीं और चारों तरफ जैन धर्म की जय जयकार ही सुनाई देगी।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक अहिंसा का धर्म है। ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक अहिंसा का जितना गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण हुआ वह इतिहास की बहुत बड़ी निधि है इसलिए २१वीं शताब्दी में जैनधर्म की सुकीर्ति की पताका पूरे जगत् में सदा फैलती ही रहेगी।

२१वीं शताब्दी में जैन धर्म इतना अधिक चमत्कारी हो जाएगा कि इसके चमत्कार से आकाशगर्जना के समान दिव्यध्वनि ॐकारमय प्रगट होगी। यह ध्वनि ऐसी होगी जिसे पशु-पक्षी, देव-मनुज सब अपनी-अपनी भाषा में ग्रहण करेंगे। जैनधर्म की जो अनमोल वाणी अर्थात् जो सन्देश है उसी को अब सारे जग में पहुँचाना है और अब हमें जैनधर्म के माध्यम से प्राकृतिक धर्म फैलाना है

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म के अनमोल सन्देश ''जीओ और जीने दो'' को पूरे संसार में फैलाना है और जिनवर की अमर वाणी को पूरे संसार में सुनाना है।

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म का माहात्म्य उसी प्रकार श्रेष्ठ होगा जिस प्रकार त्रिलोक में सुमेरु, धर्मों में जैनधर्म की अहिंसा और देशों में भारत देश का है।

जैनधर्म मानव को दिशा प्रदान करता है। मानव जीवन का सार तत्त्व धर्म है। अक्षय सुख का संयोग धर्म से ही होता है। कहा भी है— धर्म सदैव कर्त्तको येन जीव: सुखायते अर्थात् प्रतिदिन धर्म का पालन करना चाहिए जिससे जीव सुखी रहे। तथा

जन्तुमुद्धरते धर्मः पतन्ते दुःख संकटे अर्थात् दुःख-संकट में पड़े हुए प्राणी का उद्धार धर्म ही करता है।

मेरी समझ में तो जैनधर्म एक बहुत ही अच्छा, महान्, अद्भुत, लोकप्रिय, चमत्कारिक और श्रेष्ठ धर्म है। अपनी कलम के द्वारा मैंने इस निबन्ध में लोगों को जैन धर्म का महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है। २१वीं शताब्दी तक जैन धर्म सूरज की तरह चमकता हुआ देखा जायेगा।

अन्त में मैं यही लिखूँगी कि जैनधर्म अपनाने से, समझने से और ध्याने से मानव मन का कल्याण निश्चित है।

●

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

*नीलेश कुमार सोनगरा**

आज सम्पूर्ण विश्व एक नयी सदी की ओर अग्रसर हो रहा है। सभी इस सदी का स्वागत करने के लिए तत्पर हैं। इस सदी में हम मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु एक नये अन्दाज में उभर कर आएगी। सभी व्यक्ति इस सदी में जीने के लिए व्याकुल हैं। क्या हमने यह सोचा है कि २१वीं सदी में हमारे जैनधर्म की क्या प्रासंगिकता होगी? हमारा यह जैनधर्म क्या अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम हो पायेगा? यदि इन प्रश्नों पर ध्यान से सोचा जाय तो हम यह तो कह पाएंगे कि जैनधर्म रहेगा और इसके अनुयायियों की संख्या बढ़ेगी। मेरा मत तो यह है कि आने वाली शताब्दियों में सिर्फ जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म होगा कि जिसके सिद्धान्तों पर सबको चलना पड़ेगा। जो सिद्धान्त महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले दिये उन पर शोध करने के बाद आज के वैज्ञानिक यह कह रहे हैं कि यदि जैनधर्म को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया जाए तो शायद यह सृष्टि अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच पाएगी।

तीर्थङ्कर महावीर एक चलती-फिरती प्रयोगशाला थे जिन्होंने कहा कि अहिंसा परमोधर्मः अर्थात् अहिंसा ही परम धर्म है जिसका सूक्ष्म उदाहरण उन्होंने बताया कि प्रतिदिन पानी को छानकर पीयें जिससे पानी में रहने वाले जीव भी बचेंगे और छनित पानी पीने से स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा। यही बात वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में सौ प्रतिशत सत्य है।

दूसरी बात उन्होंने बतायी कि जैसे उपवास करना,यदि इसका हम वैज्ञानिक महत्त्व देखें तो डॉ० फेलिक्स एल० ओसवाल्ड के अनुसार शरीर की भीतरी सफाई के लिए उपवास सबसे उत्तम तरीका है। उन्होंने कहा कि रक्त और तन्तुओं के विजातीय पदार्थों को शरीर से तेजी से बाहर करने के लिए उपवास के समान और कोई साधन नहीं है। अस्तु उपवास से शारीरिक क्षमता और स्फूर्ति में वृद्धि होती है। इस बात की प्रासंगिकता २१वीं सदी में तो क्या २१ हजार वर्ष तक भी नहीं झुठलायी जा सकेगी।

भगवान् महावीर ने कहा कि अवमोदर्य (ऊनोदरी-तप) करें अर्थात् भूख से कम

---

*. पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध प्रतियोगिता में 'अ' वर्ग में तृतीय पुरस्कार विजेता; पता-पद्मकुटीर, सदर बाजार, साबा, जिला-चित्तौड़गढ़, राजस्थान.

आहार करना, वस्त्रों का अल्पीकरण करना। इनको यदि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो हम यह कह पाएगें कि ऊनोदरी तप से व्यक्ति कम खाएगा और कुछ बचाएगा जिससे अन्य भूखों का पेट तो भरेगा ही साथ ही उस व्यक्ति को अजीर्ण नहीं होगा और उसका स्वास्थ्य अच्छा बना रहेगा।

जैनधर्म ने यह प्रावधान किया कि सचित्त का त्याग करें अर्थात् उन चीजों का प्रयोग कम से कम करें जिनमें बीज होते हैं। पहले यह कुछ अजीब-सा लगा कि सचित्त का त्याग करने से क्या फायदा, उससे कौन-सा नुकसान होगा, लेकिन वैज्ञानिकों ने जब इसका भी गहन अध्ययन किया तो यह पाया कि बीज वाली वस्तुओं का अधिक सेवन करने से पेट में पथरी होती है और आज के व्यक्ति अब उसे स्वीकारते हैं, ऐसा क्यों? क्योंकि यह एक वैज्ञानिक युग है। हजारों वर्ष पहले एक महापुरुष ने यह बात कही तब उन्होंने धार्मिक सन्दर्भ में कहा इसलिए लोगों ने उसे उतना महत्त्व नहीं दिया, लेकिन आज जब व्यक्ति के स्वयं के शरीर पर बन आयी और अपना स्वास्थ्य खतरे में दिखा तब उसने डॉक्टर के कहने पर उस चीज को छोड़ा जिसे छोड़ने के लिए उसके महान् धर्म ने पहले ही कह दिया। व्यक्ति के दिमाग में जैनधर्म का महत्त्व देर से समझ में आया, लेकिन व्यक्ति को मानना पड़ा कि जैन दर्शन ने जो आज तक कहा है वह शत् प्रतिशत् सही है जिसे कि २१वीं सदी के वैज्ञानिक भी नहीं झुठला पाएगें।उसका महत्त्व है और आगे भी रहेगा।

मेरा यह मानना है कि जैन धर्म के जो सिद्धान्त और नियम हैं उन्हें २१वीं सदी में मानना ही पड़ेगा। चाहे भारतवर्ष उस समय पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति को पूर्ण रूप से अंगीकार क्यों न कर ले। लेकिन शायद यह सम्भव नहीं हो पाएगा, क्योंकि जब तक जैन धर्म इस भारतवर्ष और विश्व में विद्यमान है तब तक चाहे कोई भी संस्कृति हो या सभ्यता,वह इस धर्म को अपने प्रभाव में दबा नहीं पायेगी।

आज हम कहते हैं कि भारत में सभी पर पाश्चात्य सभ्यता का असर पड़ता जा रहा है और व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगकर अपने संस्कारों को भुलाता जा रहा है लेकिन फिर भी तीर्थङ्कर महावीर का शासन दैदीप्यमान है और व्यक्ति चाहे कितना ही स्वार्थी क्यों न हो, वह कितनी ही माडर्न सोसायटी में क्यों न रह रहा हो लेकिन वह भी उस अहिंसा के अवतार श्रमण भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के प्रति उतना ही नतमस्तक है जितने हमारे जैन साधु-सन्त,जिन्होंने प्रभु महावीर की वाणी को हम तक पहुँचाया है।

हम यह मानते हैं कि २१वीं शताब्दी में नई पीढ़ी मन्दिर या स्थानक से मूवी (पिक्चर हाल) तक पहुँच जाएगी और ताजे फलों के रस से पेप्सी और कोका कोला तक पहुँच जाएगी लेकिन जैन दर्शन का महत्त्व ज्यों का त्यों बना रहेगा। इतना ही

नहीं, वह और भी बढ़ जाएगा पर कम नहीं होगा।

महावीर ने कहा कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करना चाहिए तथा सात कुव्यसनों से सदैव अपने को बचा कर रखना चाहिए जैसे— चोरी करना, जुआ खेलना, शिकार करना, परस्त्रीगमन इत्यादि। यदि हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो हम यह पाते हैं कि वास्तव में यदि मनुष्य विवेक से काम ले और इन सात कुव्यसनों से दूर रहे तो वह अपने को इतना सुखी अनुभव करेगा जितना वह पहले कभी नहीं था।

आज और आने वाली २१वीं सदी, जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं उसमें क्या चोरी, शिकार, जुआ इत्यादि जो भी कुव्यसन हैं क्या वे अपराध नहीं कहलायेंगे? यदि ऐसा है तो फिर दुनिया में अपराध रहेगा ही क्या सभी पुण्य के कार्य हो जायेंगे? इसलिए चाहे वह २१वीं सदी क्यों न हो उसमें भी प्रभु महावीर के सिद्धान्त तो अटल रहेंगे।

वैज्ञानिकों का मत अब यह है कि अण्डे मत खाइये, इससे कैंसर होता है और हृदयरोग की सम्भावना बढ़ती है। अण्डों में पाया जाने वाला विष का पता तो आज चला है पर भगवान् महावीर ने तो उस समय ही बता दिया कि अण्डों व मांस, मछली का सेवन न करें।

आज विश्व एक लाइलाज बीमारी एड्स (एक्वायर्ड इम्यूनोडेफिसिएन्सी सिन्ड्रोम) से पीड़ित हो रहा है और हर देश की सरकार अपने नागरिकों को कह रही है कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करे लेकिन जैनदर्शन ने यह बात हजारों वर्ष पहले ही कह दी थी।

इसलिए प्रत्येक सदी में चाहे दुनिया कितने ही आधुनिक और कम्प्यूटरीकृत युग में पहुँच जाये लैकिन हर सदी में जैनधर्म की प्रासंगिकता अटल थी, अटल है और अटल रहेगी।

इस धर्म के सिद्धान्तों को सभी को नतमस्तक होकर स्वीकारना पड़ेगा और सम्पूर्ण विश्व में भगवान् महावीर का शासन चमकेगा।

●

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

कु० अर्चना श्रीवास्तव[1]

जिन प्रवर्तित धर्म जैनधर्म है और अपनी इन्द्रियों, वासनाओं एवं इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने वाला ही जिन है, वही तीर्थङ्कर है। इसके प्रणेता आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव माने जाते हैं जो प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, प्रथम धर्मचक्रवर्ती हैं और वे नीति के प्रकाशक कहे जाते हैं।

विश्व के धर्मों के इतिहास में जैन धर्म का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अहिंसा, अनेकान्तवाद, वैचारिक उदारता के साथ धार्मिक सहिष्णुता के पोषक जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण अवदान है। सही अर्थ में कहा जाए तो जैनधर्म धर्म न होकर एक जीवन दृष्टि है जिसका मूल मन्त्र रहा है विचारों में अनेकान्त और व्यवहार में अहिंसा।

महापुरुषों की महानता इसी में निहित है कि उनकी वाणी किसी देश और काल की मर्यादा में न रहकर समग्र विश्व और भूत, वर्तमान तथा भविष्य में व्याप्त रहती है। आप्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म की शिक्षायें भी इस तथ्य का समर्थन करती हैं। आज के परिवेश में भी जैनधर्म की शिक्षायें सर्वथा प्रासंगिक हैं और उनके प्रवक्ता तीर्थङ्करों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर हम समस्त जीवों का कल्याण कर सकते हैं।

धर्म की प्रासंगिकता का विचार मन में आते ही यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए, धर्म की प्रासंगिकता क्या है? धर्म का आध्यात्मिक पक्ष भले ही प्रधान है परन्तु धर्म का कर्तव्य पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। **स्थानाङ्गसूत्र**[1] १३५ में धर्म के कर्तव्य पक्ष को ही प्रतिपादित किया गया है। वहाँ धर्म के दश प्रकार बताये गये हैं—

१ **ग्रामधर्म**— गाँव की परम्परा या व्यवस्था का पालन करना।

२. **नगरधर्म**— नगर की परम्परा या व्यवस्था का पालन करना।

३ **राष्ट्रधर्म**— राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का पालन करना।

४. **पाखण्डधर्म**— पापों का खण्डन करने वाले आचार का पालन करना।

---

१. शोधछात्रा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध प्रतियोगिता में 'ब वर्ग' में प्रथम पुरस्कार विजेता.

५. **कुलधर्म**— कुल के परम्परागत आचार का पालन करना।

६. **गणधर्म**— गणतन्त्र राज्यों की परम्परा या व्यवस्था का पालन करना।

७. **संघधर्म**— संघ की मर्यादा और व्यवस्था का पालन करना।

८. **श्रुत धर्म**— द्वादशांग श्रुत की आराधना या अभ्यास करना।

९. **चारित्र धर्म**— संयम की आराधना करना, चारित्र परिपालन करना।

१०. **अस्तिकायधर्म**— अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी द्रव्यों का धर्म। (स्वभाव)

धर्म के इन प्रकारों पर गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा धर्म के व्यापक स्वरूप को स्वीकार करती है और इसका उद्देश्य व्यक्ति के साथ-साथ समाज और राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करना रहा है।

अत: जैनधर्म की वर्तमान काल में प्रासङ्गिकता की दृष्टि से विचार करने हेतु आज की समस्याओं के निराकरण में जैनधर्म का क्या योगदान है? इस पर विचार करना युक्तिसङ्गत है।

वर्तमान समय में मनुष्य प्रत्येक समस्या पर तार्किक दृष्टि से विचार करता है, किन्तु दुर्भाग्य है कि इस बौद्धिक विकास के बावजूद एक तरफ अन्धविश्वास और रुढ़िवादिता कायम है, तो दूसरी ओर वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। धार्मिक एवं राजनैतिक साम्प्रदायिकता वर्तमान समय में जनता को उन्मादी बना रही है। वह कहीं धर्म के नाम पर, कहीं राजनैतिक विचारधाराओं के नाम पर, कहीं धनी और निर्धन के नाम पर, कहीं जातिवाद के नाम पर, कहीं काले-गोरे के भेद को लेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवारें खड़ी कर रहा है। आज प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय, प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक वर्ण अपने हितों की सुरक्षा के लिए दूसरे के अस्तित्व को समाप्त करने पर तुला हुआ है। समाज में आज सभी अपने को मानव कल्याण का एकमात्र ठेकेदार मानकर अपनी सत्यता का दावा करते हैं। पूंजीपतियों और शोषितों का जो संघर्ष है, वह है पदार्थों के परिग्रह को लेकर। एक ओर जीवन के आवश्यक साधनों का ढेर लगता चला गया और दूसरी ओर अभावों की खाई निर्मित होती गयी। ऐसी स्थिति में जो संघर्ष की स्थिति बनती है, उससे शान्ति नहीं अपितु अशान्ति का ही निर्माण होता है। संघर्ष की इस स्थिति में मनुष्य को अपने विवेक से काम लेना चाहिए। क्योंकि विवेकरूपी दीपक से विषमता का अन्धकार नष्ट होकर समता का प्रकाश फैलता है। विवेक विकलता से विषमता नष्ट नहीं होती है अपितु और अधिक बढ़ती है किन्तु जब समता का आंचल थाम लिया जाता है तब शान्ति की वर्षा होने लगती है। समता अपरिग्रहवाद की पहली शर्त है क्योंकि समभाव के बिना 'अपरिग्रहवाद' फलीभूत नहीं हो सकता। अनासक्त स्थिति समभाव से ही सम्भव है। अपरिग्रहवादी

समतावाद की स्थापना करता है। समतावादी समाज की संरचना से ही अपरिग्रहवाद फलता-फूलता है और मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का विर्सजन होकर आनन्द की बहार का सर्जन होता है।

समाज में जहाँ एक ओर साधन सम्पन्न मानव वर्ग बढ़ रहा है वहीं दूसरी ओर साधनविहीन मानव समुदाय की भी संख्या वृद्धिगत होती जा रही है। इन दोनों वर्गों के मध्य खाई इतनी बढ़ती जा रही है कि आये दिन नये-नये संघर्ष खड़े हो जाते हैं। एक ओर विपुल साधनों के ढेर पर बैठा मानव समाज स्वर्गीय सुख की सांसें ले रहा है तो दूसरी ओर साधनाभाव की अग्नि से पीड़ित वह दुःख की आहें भर रहा है। ऐसी स्थिति में मानव-मानव के बीच हिंसक संघर्ष होने लगे तो कोई आश्चर्य नहीं है। तृष्णा की इस जाज्वल्यमान अग्नि से अहिंसा का प्रकाश नहीं अपितु हिंसा की ज्वाला ही भड़कती है। हिंसा के पीछे परिग्रह/तृष्णा का ही बेहूदा हाथ होता है जबकि अहिंसा की पीठ पर अपरिग्रह का वरदहस्त बैठा रहता है।

आज का जनजीवन संघर्ष से आक्रान्त है, विश्व में द्वेष और द्वन्द्व का दावानल सुलग रहा है। मानव अपने ही विचारों के कटघरे में आबद्ध है, आलोचना और प्रत्यालोचना का दुश्चक्र तेजी से चल रहा है। वह एकान्तपक्ष का आग्रही होकर अन्धविश्वासों के चङ्गुल में फँसता जा रहा है। क्षुद्र वा संकुचित मनोवृत्ति का शिकार होकर एक दूसरे पर छींटाकसी कर रहा है। वह अपने मन्तव्यों को सत्य और दूसरे के विचारों को मिथ्या सिद्ध करने पर तुला रहता है। 'सच्चा सो मेरा' सिद्धान्त को भूलकर 'मेरा सो सच्चा' सिद्धान्त की घोषणा कर रहा है, जिसके परिणामस्वरूप समाज में अशान्ति की लहर दौड़ रही है। इतना ही नहीं, जब मानव में संकीर्णवृत्ति से उत्पन्न हुए अहंकार, असहिष्णुता आदि का चरमोत्कर्ष होता है तब धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं। ऐसी ही परिस्थितियों से उबरने के लिए जैनधर्म दर्शन ने विश्व को अनेकान्त का सिद्धान्त प्रदान किया है।

गृहस्थ— व्यक्ति को धन-धान्य आदि वस्तुओं के भोग-उपभोग को सीमित रखना चाहिए और इसी निर्देश को मानकर गृहस्थों ने परिग्रह की सीमा को बाँधकर अपरिग्रह की दिशा में अवश्य ही प्रगति की है। व्यक्ति के पास न मकान हो और न धन-धान्य ही, तब भी इनके प्रति आकर्षण या राग हो तो वह निश्चितरूप से परिग्रही है। जैसे कोई लोभी और अति दरिद्र व्यक्ति तृष्णावश परिग्रही रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि बाह्य में परिग्रह हो और अन्तरङ्ग में यदि मूर्छा नहीं है तो ऐसा व्यक्ति अपरिग्रही कहलाता है, जैसे— राजा जनक।

भगवान् महावीर ने कहा है कि इच्छायें आकाश के समान अनन्त हैं और यदि व्यक्ति उन पर नियन्त्रण नहीं रखता तो वह शोषक बन जाता है। अतः उन्होंने इच्छाओं

के नियन्त्रण पर बल दिया है और मानव की संग्रहवृत्ति को अपरिग्रहव्रत एवं इच्छापरिमाणव्रत द्वारा नियन्त्रित करने का उपदेश दिया है।

विश्व भर में पर्यावरण का विकृत या प्रदूषित होना एक गम्भीर समस्या है। तीव्रता से बढ़ती जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव-समाज की एक ज्वलन्त समस्या है। भारत को अपने प्राकृतिक संसाधनों के विकृत होने के दुष्परिणाम देश के विभिन्न भागों में सूखा, बाढ़ आदि के रूप में झेलने पड़ रहे हैं। प्रदूषित होते पर्यावरण के कारण न केवल मानव जाति को अपितु पृथ्वी पर के समग्र जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। आर्थिक-विकास, शहरीकरण, उद्योगीकरण, प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और लोगों की जीवनशैली का भी पर्यावरण पर असर पड़ता है। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के लिए आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक तेल एवं गैस की बात तो दूर रही, २१वीं शताब्दी में पेयजल और सिचाई हेतु पानी मिलना भी दुष्कर हो जाएगा। विज्ञान के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं मिथ्या धारणायें समाप्त हुई हैं, किन्तु जो लोग वैज्ञानिक निष्कर्षों को चरम सत्य मानकर धर्म व दर्शन के निष्कर्षों और उनकी उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं वे भी भ्रान्ति में हैं। कालक्रम में पूर्ववर्ती और अनेक वैज्ञानिक धारणायें अवैज्ञानिक बन चुकी हैं। अत: आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न पूर्ववर्ती मान्यताओं को पूर्णत: निरर्थक या काल्पनिक कहकर अस्वीकार कर देने का कोई औचित्य है।

यद्यपि वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त आवागमन के सुलभ साधनों ने आज विश्व की दूरी तो कम कर दी है, किन्तु मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी बढ़ गयी है जो बड़ी भयावह है। वर्तमान समय में विश्व का वातावरण तनावग्रस्त एवं विक्षुब्ध है। एक ओर इजरायल और अरब में यहूदी एवं मुसलमान लड़ रहे हैं, तो दूसरी ओर इस्लाम धर्म के ही दो सम्प्रदाय शिया और सुन्नी इराक और ईरान में लड़ रहे हैं। भारत में भी कहीं हिन्दू और मुसलमानों का तो कहीं हिन्दू और सिक्खों को एक दूसरे के विरुद्ध लड़ने के लिए उकसाया जा रहा है। अफ्रीका में काले-गोरे का संघर्ष चल रहा है तो साम्यवादी रूस और पूँजीवादी संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे को नेस्तनाबूद करने पर तुले हुए हैं। आज मानवता उस कगार पर आकर खड़ी हो गई है, जहाँ उसने रास्ता नहीं बदला तो उसका सर्वनाश सन्निकट है। इकबाल ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देते हुए कहा है—

अगर अब भी न समझोगे तो मिट जाओगे दुनियां से।
तुम्हारी दास्ता तक भी न होगी दास्तानों में।।

जैन धर्म और संस्कृति का विकास समन्वयवादी परिवेश में हुआ है। फलतः क्रान्तिधर्मी होते हुए भी वह अपनी सहगामी ब्राह्मण परम्परा के व्यापक प्रभाव से अप्रभावित न रह सकी। विभिन्न कालों में नारी की स्थिति में भी परिवर्तन होते रहे हैं। वर्तमान समय में भी नारी के सन्दर्भ में जैन विचारकों का समान दृष्टिकोण नहीं है। प्रथम तो उत्तर और दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थिति की भिन्नता के कारण इस युग के जैनाचार्यों का दृष्टिकोण नारी के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रहा है। जहां उत्तर भारत के श्वेताम्बर जैन आचार्य नारी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण रखते हैं, वहीं दक्षिण भारत के दिगम्बर जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अनुदार प्रतीत होता है।

सामाजिक समता का तात्पर्य है कि मानव समाज के सभी सदस्यों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हों तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सके। सामाजिक समता के सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने मानव में स्वाभाविक योग्यता जन्म अथवा पूर्व कर्म संस्कारजन्य तरतमता को स्वीकारते हुए भी यह माना है कि चाहे विद्या का क्षेत्र हो, चाहे व्यवसाय या साधना का, उसका प्रवेशद्वार सभी के लिए बिना भेद-भाव के खुला होना चाहिए। जैनधर्म स्पष्ट रूप से यह मानता है कि किसी जाति या वर्ग विशेष में जन्म लेने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं होता। उसे जो हीन बनाता है, वह है उसका अपना दुष्कर्म। उसका अपना पुरुषार्थ, उसकी अपनी साधना और सदाचार ही उसकी सम्पत्ति है। इसमें जो कुछ भेद है वह कुछ नैसर्गिक है और कुछ मानव सृजित। ये मानव सृजित भेद ही सामाजिक विषमता के कारण हैं। यह सत्य है कि सभी मनुष्य, सभी बातों में एक दूसरे के समान नहीं होते, उनमें रूप-सौन्दर्य, धन-सम्पदा, बौद्धिक विकास, कार्य-क्षमता, व्यवसायिक योग्यता आदि की दृष्टि से विषमता या तरतमता होती है। इस प्रकार की तरतमताओं के आधार पर मनुष्यों को सदैव के लिए मात्र जन्मना आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटकर नहीं रखा जा सकता है। मानव समाज के किसी एक वर्ग विशेष को जन्मना आधार पर उसका ठेकेदार नहीं मान सकते हैं। नैसर्गिक योग्यताओं एवं कार्यों के आधार पर मानव समाज में सदैव ही वर्गभेद या वर्णभेद बने रहेंगे। फिर भी उनका आधार वर्ग या जाति विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर अपनाये गये व्यवसाय या कार्य होंगे। व्यवसाय या कर्म के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए और किसी भी वर्ग विशेष में जन्मे व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र विशेष में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। यही सामाजिक समता का आधार है।

समता भाव ब्रह्मचर्य के पालन का फलितार्थ है। प्राणीमात्र की आत्मा समान है, अतः सबके प्रति सदा सभी अवस्थाओं में समता भाव रखना श्रेयस्कर है। दूसरों को जाति, विद्या, रूप, धन आदि के आधार पर देखा जाता है और उसी आधार पर

...on Institute of A...

छोटा-बड़ा समझते हैं किन्तु सबको उसके भीतरी गुणों को ओर ही देखना चाहिए। बाह्य संसार तो आडम्बरयुक्त और परिवर्तनशील है। मानव ही नहीं, जीव मात्र के प्रति समता भाव हो यह जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

किसी भी प्राणी को मन, वाणी और क्रिया से किसी भी प्रकार का (भावात्मक या शारीरिक) दुःख न पहुँचाना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है। सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखना, यह अहिंसा का क्रियात्मक रूप है। इसके अन्तर्गत अन्य प्राणियों की रक्षा-सुरक्षा का भाव समाहित है। समस्त श्रमण जीवन का आचार अहिंसा-मूलक और विचार अनेकान्तात्मक है। विश्व के समस्त धर्मों में न्यूनाधिक रूप में अहिंसा का महत्त्व बताया गया है। भारतवर्ष में बौद्ध एवं वैदिक धर्म ने भी अहिंसा को महत्त्व दिया है, पर जैनधर्म ने जिस सूक्ष्मता और गहराई से अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाया और उसे व्यवहारिक रूप दिया है वह अन्यत्र देखने/पढ़ने में नहीं आया। जैन धर्म में पाँच महाव्रतों में अहिंसा को प्रमुख व्रत माना गया है। यह कहना गलत नहीं होगा कि अहिंसा जैनदर्शन का प्राण है। भगवान् महावीर का समूचा व्यक्तित्व पूर्ण अहिंसावादी दृष्टि की प्रतिकृति है। उनके बाद भारतवर्ष में महात्मा गांधी की अहिंसा को दूसरा स्थान मिला है जिसे उन्होंने पराधीनता से मुक्ति दिलाने के अस्त्र के रूप में प्रयोग किया था। **सूत्रकृताङ्ग** के अनुसार ज्ञानी होने का सार यह है कि व्यक्ति हिंसा न करे। अहिंसा ही वस्तुतः समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।[२] **गीता** में भी अहिंसा को महत्त्व देते हुए उसे दैवी-सम्पदा एवं सात्त्विक तप बताया गया है।[३] **महाभारत** में भी जैन विचारों के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत माना गया है,[४] 'अहिंसा ही धर्म का सार है'[५]। अहिंसा की पूर्णता के लिए हमें अपनी प्रत्येक गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। हमें शास्त्रनिर्दिष्ट आरम्भी, उद्योगी, विरोधी एवं संकल्पी हिंसा से विरत होना चाहिए। ये चारों हिंसक प्रणालियाँ क्रमशः अधिकाधिक अनष्टिकारक एवं घातक हैं। वर्तमान समय में विश्व को अहिंसा की अत्यधिक आवश्यकता है। आध्यात्मिक मूल्यों का पुनर्जागरण आज पूर्णतया अपेक्षित है। महात्मा गांधी ने अहिंसा के मूल तत्त्व को उद्घाटित करते हुए कहा है कि मानव में जीवन संचार किसी न किसी हिंसा से होता है। इसलिए सर्वोपरि धर्म की परिभाषा एक नकारात्मक कार्य अहिंसा से की गई है। "धर्म का मौलिक रूप अहिंसा है"[६], सत्य, अचौर्य आदि उसका विस्तार है।

हिंसा धर्म और समाज में भी समय-समय पर नये-नये रूप धारण करके प्रविष्ट होती रहती है। श्रमण महावीर के युग में स्थिति ऐसी ही थी। तब महावीर ने इन सबके विरुद्ध क्रान्ति का शङ्खनाद किया। वे एक विराट सांस्कृतिक नवचेतना को लेकर आए। जैनधर्म की सांस्कृतिक देन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० राधाकमल मुखर्जी लिखते हैं[७]— भारतीय सभ्यता को जैन धर्म की सर्वोच्च देने हैं— प्रत्येक जीवधारी

के प्रति उदारता और तपस्या, वस्त्र-त्याग तथा उपवासादि के प्रति विश्वजनीय भावना। यह बात केवल साधुओं और श्राविकाओं ने ही नहीं, बल्कि जन-सामान्य ने भी स्वीकार की है।

सुप्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ **तिरुक्कुरल**[८] के ३३वें परिच्छेद में अहिंसा के विषय में जो मर्मस्पर्शी वचन कहे गये हैं उनका अनुवाद इस प्रकार है —

सब धर्मों में श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म।
हिंसा के पीछे लगे, पाप भरे सब कर्म।।
जिनकी निर्भर जीविका, हत्या पर ही एक।
मृत-भोजी उनको विबुध, माने हो सविवेक।।

अहिंसा मानव के साध्य और साधनों की कसौटी है। सभी साध्यों और साधनों का अहिंसात्मक होना अनिवार्य है। अहिंसा मानव के लिए मानवोचित होने का दर्शन है।

जैन परम्परा की अहिंसा ने वास्तव में सम्पूर्ण विश्व को अनोखा वरदान दिया है। इतनी गहरी, बहुमुखी, सूक्ष्म, व्यवहारिक एवं निश्चयात्मक दृष्टि अन्यत्र दुर्लभ है। जैन-अहिंसा के आध्यात्मिक पक्ष के साथ उसके व्यावहारिक और आधारमूलक पक्ष के अन्तर्गत रात्रिभोजन परित्याग, मांसाहार त्याग आदि की विशेष चर्चा है।

अहिंसा के व्यापकतम प्रभाव के विषय में **आचाराङ्ग**[९] में अत्यन्त प्रभावकारी विवेचन है—

'अस्थि सत्यं परेण परं नत्थि असत्यं परेण परं।'

अर्थात् शस्त्र एक से बढ़कर एक हैं। अशस्त्र-अहिंसा से बढ़कर कोई शस्त्र नहीं है। इसका प्रभाव अचूक होता है।

भगवान् महावीर ने संग्रहवृत्ति के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए कहा है कि संग्रहवृत्ति पाप है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है तो वह समाज में अपवित्रता का सूत्रपात करता है। संग्रह फिर चाहे धन का हो या अन्य किसी वस्तु का, वह समाज के अन्य सदस्यों को उनके उपभोग के लाभ से वंचित कर देता है। एक भिक्षुक घोर दरिद्र होकर भी सम्पत्ति आदि के प्रति आसक्ति के कारण परिग्रही है। दूसरी ओर एक चक्रवर्ती जल में कमल की भाँति निर्लिप्त रहने पर अपरिग्रही है। बात ईमानदारी की है। संसार के सभी धर्म त्याग और अपरिग्रह को महत्त्व देते हैं, पर जैन धर्म ने इसे अत्यधिक मान्यता दी है। जैन मुनि परम अपरिग्रही और विशुद्ध रूप से आत्मनिर्भर रहते हैं। आहार में भी परम संयमी होते हैं। यह अपरिग्रह भाव सर्वव्यापी हो, यही भावना श्रमण संस्कृति में व्याप्त है।

भगवान् महावीर ने आर्थिक वैषम्य, भोग-वृत्ति और शोषण की समाप्ति के लिए मानव जाति को अपरिग्रह का सन्देश दिया है। उन्होंने कहा है कि इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है और यदि अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं रखें तो वह शोषक बन जाता है। अत: महावीर ने इच्छाओं के नियन्त्रण पर बल दिया है। जैन-दर्शन में जिस अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है उसका एक नाम 'इच्छापरिमाणव्रत' भी है। भगवान् महावीर ने मानव की संग्रहवृत्ति को अपरिग्रहव्रत एवं इच्छापरिमाणव्रत द्वारा नियन्त्रित करने का उपदेश दिया है, साथ ही उसकी भोग-वासना और शोषण वृत्ति के नियन्त्रण के लिए ब्रह्मचर्य, उपभोग, परिभोग, परिमाणव्रत तथा अस्तेयव्रत का विधान किया है। मनुष्य अपनी संग्रहवृत्ति को इच्छापरिमाणव्रत द्वारा या परिग्रह-परिमाणव्रत द्वारा नियन्त्रित करे। इस प्रकार अपनी भोगवृत्ति एवं वासनाओं को उपभोग परिभोग-परिमाणव्रत एवं ब्रह्मचर्य द्वारा नियन्त्रित करे, साथ ही समाज को शोषण से बचाने के लिए अस्तेयव्रत और अहिंसाव्रत का पालन करना चाहिए।

भारतीय संस्कृति त्याग और संयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषमा संयताचरण में है, बाहरी सुसज्जा और वासनापूर्ति में नहीं। जिन भोगोपभोगों में लिप्त हो मानव अपने आप तक को भूल जाता है, वह जरा आँखें खोलकर देखे कि वे उसके जीवन के अमरतत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन में त्याग को जितना प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी और शान्त होगा।[१०]

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का एक प्रातिनिधिक पारिभाषिक शब्द है। इसके साथ स्याद्वाद एवं सप्तभङ्गी शब्द भी जुड़े हैं। स्याद्वाद अनेकान्तवाद का ही विकास मात्र है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही हैं। इसका कारण यह है कि स्याद्वाद में जिस पदार्थ का कथन होता है, वह अनेकान्तात्मक होता है। दोनों में सिर्फ शब्दमात्र का अन्तर होता है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधारशिला है। अनेकान्तवाद का यदि हम एक ही शब्द में अर्थ करें तो उसे सापेक्षवाद भी कह सकते हैं।

अनेकान्तवाद एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसका सम्बन्ध धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैचारिक आदि सभी क्षेत्रों से है। अनेकान्त दर्शन में अपनी वैचारिकता के साथ दूसरे व्यक्ति की वैचारिकता को भी सहृदयता और ईमानदारी से समझा जाता है। शारीरिक हिंसा की अपेक्षा वैचारिक हिंसा (दूसरों के विचारों का दमन) अधिक घातक है। अत: अनेकान्त दर्शन में परमत, सहिष्णुता और सद्भावना को बहुत महत्त्व दिया गया है। अनाग्रह अपने विचारों की तरह दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है। उस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे पास है, दूसरे के पास नहीं हो सकता। हमें यह भी बताता है कि सत्य हमारे पास और दूसरों के पास भी हो सकता है। सत्यता का बोध केवल हमें ही हो सकता है, दूसरों को सत्य का बोध

नहीं हो सकता— यह कहने का अधिकार हमें नहीं है। सत्य का सूर्य न केवल हमारे घर को प्रकाशित करता है, वरन् दूसरों के घरों को भी प्रकाशित करता है। वस्तुत: वह सर्वत्र प्रकाशित है। जो भी उन्मुक्त दृष्टि से उसे देखता है, वह उसे पा जाता है। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का है। जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है कि जीवन जहाँ कहीं भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए, उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है सत्य जहाँ भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए। **सूत्रकृताङ्ग** में कहा गया है कि जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं, वे एकान्तवादी स्वयं संसारचक्र में भटकते रहते हैं।

जैनदर्शन व्यक्तिमात्र की उचित वैचारिकता का स्वागत करता है। वह समन्वयवादी है। स्याद्वाद में वस्तु के सम्भव सात पक्षों को घट के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

१. **स्यादस्ति घट:** (घट सापेक्षरूप से विद्यमान है)।

२. **स्यादनास्ति घट:** (घट सापेक्षरूप से विद्यमान् नहीं है)।

३. **स्यादस्ति नास्ति च घट:** (घट सापेक्ष रूप से विद्यमान् है, नहीं है)।

४. **स्यादवक्तव्य: घट:** (घट सापेक्षरूप से अवक्तव्य है)।

५. **स्यादस्ति अवक्तव्यश्चघट:** (घट सापेक्षरूप से विद्यमान है और अवक्तव्य है)।

६. **स्यादनास्ति अवक्तव्यश्च घट:** (घट सापेक्षरूप से विद्यमान नहीं है और अवक्तव्य है)।

७. **स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च घट:** (घट सापेक्ष रूप से विद्यमान है, नहीं है और अवक्तव्य है)।

सापेक्ष दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के अनेक पक्ष होते हैं। अत: उनका एकान्तिक कथन सम्भव नहीं है। विश्व की चिन्तन धारा में जैनदर्शन का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

तीव्रता से बढ़ती जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव समाज की एक गम्भीर समस्या है क्योंकि प्रदूषित होते हुए पर्यावरण के कारण न केवल मानव जाति बल्कि पृथ्वी पर स्वयं जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। जैन दृष्टि से अहिंसा द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा का सार्थक और सफल उपाय किया जा सकता है। जिनेश्वर भगवान् महावीर को सूक्ष्मातिसूक्ष्म से विशालकाय सभी चौरासी लाख जीव योनियों के सुखपूर्वक एवं

सुरक्षित जीवन का अधिकार मान्य है। मानवजाति को किसी का घात न करने का निर्देश देते हुए महावीर ने यह तथ्य प्रतिपादित किया था कि सभी जीवन जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। सभी को सुख प्रिय होता है, दुःख किसी को नहीं। अत: दूसरे सभी प्राणियों को जीवित रहने में सहायता करो।

जीवों को परस्पर उपकार ही करना चाहिए। पृथ्वी, जल और वनस्पति-इन सभी में जैनदर्शन प्राणों का अस्तित्व स्वीकार करता है और अहिंसा इनकी रक्षा की प्रेरणा देती है। अस्तु अहिंसा प्रदूषण पर अंकुश लगाकर पर्यावरण के असन्तुलन को रोकने का सबल साधन बन जाती है।

जैनधर्म में पर्यावरण के संरक्षण के लिए पर्याप्त निर्देश उपलब्ध हैं। उसकी दृष्टि में प्राकृतिक संसाधनों का असीम दोहन हो रहा है जिसमें बड़ी मात्रा में भू-खनन, जल अवशोषण, वायु प्रदूषण, वनों को काटने जैसे कार्य हो रहे हैं। ये महारम्भ की कोटि में आते हैं जिसको जैनधर्म में नरक-गति का कारण बताया गया है।

जैनधर्म के प्रथम ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक सबने प्रकृति के साथ सन्तुलन रखने हेतु पृथ्वीकायिक आदि समस्त जीवों के साथ परस्पर उपकार करने हेतु संयम का उपदेश दिया है। उन्होंने जैसे जीवकाय के प्रति संयम रखने की प्रेरणा दी है, वैसे अजीवकाय (जड़ प्रकृतिजन्य वस्तुओं या पुद्गलों) के प्रति भी संयम रखने की खास प्रेरणा दी है। जैनदर्शन के दो मुख्य तत्त्व अहिंसा और अपरिग्रह ही पर्यावरण के बाह्य प्रदूषणों को रोकने में सक्षम हैं। यदि मानव जगत् को विनाश से बचाना है तो हमें अपनी जीवन-शैली को बदलना होगा। हमें, जीओ और जीने दो के सिद्धान्त पर अपनी जीवनशैली चलानी होगी। अपना जीवन सादा, संयमी, अल्पतम आवश्यकताओं वाला बनाना होगा, अन्यथा इन सार्वभौमिक मूल्यों की उपेक्षा करने से और इन सार्वजनिक जीवन सिद्धान्तों का उल्लङ्घन करने से विश्व में पर्यावरण-प्रदूषण बाह्य रूप से अधिकाधिक बढ़ता जाएगा। यदि हम अपने इस धर्म और कर्तव्य से मुँह मोड़ लेंगे तो अपने हाथों से अपने और समाज के जीवन को नरक बना डालेगें। इस कार्य को करना सिर्फ शासन के बस की बात नहीं है, व्यक्ति को इसके लिए स्वयं ही कमर कसना होगा। जल, वायु, भूमि, वनस्पति, आकाश आदि मानव के अभिन्न मित्रों की हमें सदैव रक्षा करनी होगी। तभी पर्यावरण की रक्षा होगी।

विज्ञान के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं मिथ्या धारणायें समाप्त हुई हैं, किन्तु जो लोग वैज्ञानिक निष्कर्षों को चरमसत्य मानकर धर्म व दर्शन के निष्कर्षों एवं उनकी उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं वे भी किसी भ्रान्ति में हैं। जैसे-जैसे वैज्ञानिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति कर रहे हैं वैसे-वैसे पूर्व की धार्मिक मान्यताएं प्रामाणिक

हो रही हैं। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो मान्यताएं निर्विवाद रूप से विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही हैं, उन्हें स्वीकार कर लिया जाए, शेष को भावी वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए परिकल्पना के रूप में मान्य किया जाए क्योंकि धर्म ग्रन्थों में उल्लिखित जो घटनाएं एवं मान्यताएं कुछ वर्षों पूर्व तक कपोलकल्पित लगती थीं वे आज विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही हैं। सौ वर्ष पूर्व धर्मग्रन्थों में उल्लिखित आकाशगामी विमानों की बात अथवा दूरस्थ ध्वनियों को सुन पाने और दूरस्थ घटनाओं को देख पाने की बात काल्पनिक लगती थी, किन्तु आज वे यथार्थ बन चुकी हैं।

जैन धर्म की ही ऐसी अनेक मान्यतायें हैं, जो अब से कुछ वर्षों पूर्व तक पूर्णत: काल्पनिक लगती थीं, आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही हैं। उदाहरण के रूप में प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया और शब्द आदि पौद्गलिक हैं— जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन आगमों का यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चारित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है, इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चारित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा चाहे अत्यन्त क्षीणरूप में ही क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। कुछ वर्षों पूर्व तक यह सब कपोल-कल्पना ही लगती थी, किन्तु आज टेलीवीजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश किरणें परावर्तित होती हैं और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में सम्प्रेषित कर देती हैं।

एक बात ध्यान में रखना चाहिए कि न तो विज्ञान धर्म का शत्रु है और न धार्मिक आस्थाओं को खण्डित करना ही उसका उद्देश्य है। वह जिसे खण्डित करता है वे हमारे तथाकथित धार्मिक अन्धविश्वास होते हैं।

अत: विज्ञान धार्मिक आस्थाओं का संहारक नहीं पोषक भी हो सकता है। यह दायित्व उन वैज्ञानिकों एवं उन धार्मिकों का है, जो विज्ञान एवं धर्म को परस्पर विरोधी मान बैठे हैं, उन्हें यह दिखाना होगा कि विज्ञान व धर्म एक दूसरे के संहारक नहीं, अपितु पोषक हैं। कल तक जो अवैज्ञानिक कहा जाता था, वह नवीन वैज्ञानिक खोजों से आज सत्य सिद्ध हो सकता है। अत: आज विज्ञान से न तो भयभीत होने की आवश्यकता है और न उसे नकारने की; आवश्यकता है, विज्ञान और अध्यात्म के रिस्ते के सही मूल्यांकन की।

जैनधर्म संघ में नारी की महत्ता को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया

गया है। मथुरा में उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि धर्मकार्यों में पुरुषों के समान नारियाँ भी समान रूप से भाग लेती थीं। वे न केवल पुरुषों के समान पूजा-उपासना कर सकती थीं अपितु वे स्वेच्छानुसार दान भी करती थीं। यद्यपि दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में कुछ लोग यह मानते हैं कि स्त्री को जिन-प्रतिमा के स्पर्श, पूजन एवं अभिषेक का अधिकार नहीं है, किन्तु यह एक परवर्ती अवधारणा है। मथुरा के जैन शिल्प में साधु के समान ही साध्वी का अंकन और स्त्री-पुरुष दोनों के पूजा सम्बन्धी सामग्री सहित अंकन यही सूचित करते हैं कि प्राचीनकाल में जैन परम्परा में दोनों का समान स्थान रहा है। जैनाचार्यों ने स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा है कि जो गुण सहित स्त्रियाँ हैं, जिनकी कीर्ति संसार में फैली हुई है तथा जो मनुष्य लोक में देवता के समान हैं और देवों से पूजनीय हैं, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाये कम ही है। तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों द्वारा पूजनीय होती हैं। कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्य का तीव्र दुःख भोगती हैं। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवों द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा शील के प्रमाण से वे शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं।

जैन संघ में नारी का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उसमें प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल तक सदैव ही भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणिओं की और गृहस्थ उपासकों की अपेक्षा उपासिकाओं की संख्या अधिक रही है। जैनधर्म में नारी की समता पर बल दिया गया और स्त्री के दासी या भोग्य स्वरूप को नकार कर उसे पुरुष के समकक्ष ही माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म ने न केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान किया है वरन् वह वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान में पूर्णतया सक्षम है। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव जीवन की समस्याएं विषमता-जनित हैं। वस्तुतः विषमता ही समस्या है और समस्या ही समाधान है। जैन धर्म यही सिखाता है कि व्यवसाय या कर्म के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए। किसी भी वर्ग विशेष में जन्मे व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र विशेष में प्रवेश पाने के अधिकार से वञ्चित नहीं किया जाना चाहिए— यही सामाजिक एकता या समता का आधार है। यहाँ अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। अहिंसा और अपरिग्रह को लेकर जैनागमों और जैनदर्शन के अनेकानेक ग्रन्थों में जैन तत्त्व मनीषियों, चिन्तकों ने विशद् चर्चा की उन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा, परखा और यह निष्कर्ष निकला कि अहिंसा अपरिग्रह की पीठ पर खड़ी है और अपरिग्रह अहिंसा के बिना असम्भव है अर्थात् ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों की जीवनता आवश्यक है। जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और असंग्रह (अपरिग्रह) पर सर्वाधिक

बल दिया गया है। इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जैनधर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है जिनका परिपालन करने से २१वीं शताब्दी में जैन धर्म का योगदान स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

सन्दर्भ :

१. **स्थानाङ्गसूत्र** १३५.

२. एवं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसइ किंचन।
अहिंसा समय चेव एतावंता वियाणिया। **सूत्रकृताङ्ग** १/४/१०.

३. **गीता** १०/५-७, १६/२, ७/१४.

४. एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
महाभारत, शान्तिपर्व, गीताप्रेस, गोरखपुर, २५४/१९.

५. अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः सधर्म इति निश्चयः। **महाभारत,** शान्तिपर्व, १०९/१२.

६. मुनि नथमल, **अहिंसातत्त्वदर्शन,** पृ० ३.

७. राधाकमल मुखर्जी, **ए हिस्ट्री आफ इण्डियन सिविलीजेशन,** पृ० १२६.

८. **तिरुक्कुरल,** अनुवादक, पं० गोविन्दराय जैन, परिच्छेद ३३, (१-९).

९. **आचाराङ्ग,** शीतोष्णीय ६९.

१०. **प्रवचन डायरी,** आचार्य तुलसी के ५६-५७ के प्रवचन, पृ० ४९.

●

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

जेठमल जी चौरड़िया

चूंकि २० शताब्दी अपनी पूर्णता की ओर तेजी से बढ़ रही है एवं बहुत शीघ्र ही २१वीं शताब्दी आने वाली है अतः उस समय जैनधर्म की क्या उपयोगिता होगी इस पक्ष प्रश्न पर विचार करने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करेंगे और साथ ही यह भी देखेंगे कि २१ वीं शताब्दी में तत्कालीन परिस्थिति देश, काल, भाव के अनुसार जैनधर्म की प्रासङ्गिकता या सन्दर्भ, उपयोगिता एवं भविष्य के अनुरूप उसकी क्या स्थिति बनेगी, इसका आकलन एवं विवेचन इन विभिन्न चरणों में यहाँ प्रस्तुत है।

१. धार्मिक स्थिति— लगभग सवा वर्ष पश्चात् २१वीं शती प्रारम्भ हो जायेगी उस समय अभी के मुकाबले धार्मिक स्थिति में बहुत ज्यादा परिवर्तन की सम्भावना नहीं है। सभी धर्मों के धर्मगुरु, सन्त, फकीर, मुल्ला, पादरी, संन्यासी, योगी एवं जैन साधु-साध्वी अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार जनसमुदाय को, अनैतिक एवं अधर्म कार्य (पाप के दलदल) से बचाते हुये लोगों को अच्छे रास्ते पर चलने के लिये प्रेरित करते रहेंगे। परन्तु जैनधर्म पर हिंसा एवं अनैतिकता को रोकने की विशेष जवाबदारी आ जायेगी। अन्य धर्मावलम्बियों का भी यह मानना है कि जहाँ दूसरे धर्म की अहिंसा समाप्त होती है वहाँ से जैनधर्म की अहिंसा प्रारम्भ होती है। अहिंसा का अतिसूक्ष्म वैज्ञानिक वर्णन (वायु, पानी, अग्नि, पृथ्वी तथा वनस्पति) केवल जैनधर्म में उपलब्ध है। वस्तुतः अहिंसा ही जैनधर्म का आधारभूत अङ्ग है। अहिंसा के उदार, विशाल एवं व्यापक दृष्टिकोण का रूप सम्पूर्ण जैन साहित्य में वर्णित है।

अहिंसा के अलावा अपरिग्रह, अनेकान्तवाद, आत्मसंयम, सरलता, मृदुता, लघुता, क्षमा एवं इन्द्रियदमन अर्थात् इन्द्रिय शमन द्वारा ही २१वीं शती में शान्ति, सौभाग्य, एवं सुख सौमनस्य स्थापित किया जा सकता है।

२. सामाजिक परिवेश— मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है एवं अपने समाज

---

*. पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध प्रतियोगिता में 'ब' वर्ग में द्वितीय पुरस्कार विजेता; पता-वसन्त मेडिकल स्टोर्स, महावीर स्वामी चौक, मेन रोड, कवर्धा, मध्य प्रदेश ४९११९५.

के रीति-रिवाज और रहन-सहन से गहनरूप से प्रभावित होता है। वर्तमान में रहन-सहन में, शादी ब्याह में एवं अन्य दैनिक कार्यों में आडम्बर, दिखावा, फ़िजूल खर्च, फैशन एवं व्यसन में भारी वृद्धि हुई है। आने वाले भविष्य में उपरोक्त सामाजिक बुराइयाँ बढ़ सकती हैं। इसपर समाज को गहन चिन्तन कर दृढ़ता से उन पर रोक लगाना होगा। सादगीपूर्ण एवं अच्छे आचरण वाले व्यक्ति या समूह को प्रोत्साहन देना होगा। इस दृष्टि से कुछ संगठन अभी से ही अपना कार्य कर रहे हैं। "खर्चीली शादियां हमें दरिद्र एवं बेईमान बनाती हैं" यह वाक्य युग निर्माण योजना, मथुरा द्वारा शुरू किया गया है। उनके द्वारा सामूहिकरूप से विवाह एवं अन्य कार्य सादगी से सम्पन्न कराये जाते हैं। भारतीय जैन संगठन भी सामूहिक विवाह, सगाई के समय ही विवाह एवं अन्य फिजूल खर्चों को रोकने के लिए प्रयत्नशील है। फिर भी अभी काफी प्रयास करने की आवश्यकता है।

३. विश्वयुद्ध की आशंका— २१वीं शती विश्वयुद्ध की आशंका से भयभीत एवं तनावग्रस्त भी रहेगी। जरा सी चिनगारी भी विश्वयुद्ध की महाविकराल ज्वाला का रूप ले सकती है। काश्मीर पर बाह्य हस्तक्षेप, युगोस्लाविया पर नाटों देशों का हमला, कोसीवों से शरणार्थियों का निष्कासन जैसी समस्यायें कभी भी विश्वयुद्ध का भयावह रूप ले सकती हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध सन् १९३९-१९४५ में हुआ था। उस समय दो करोड़ सैनिक और ३ करोड़ नागरिक मिलाकर पाँच करोड़ व्यक्ति मारे गये थे। उस समय से अब तक घातक एवं विनाशक हथियारों में काफी वृद्धि हुई है। अतएव यह युद्ध कितना भयानक एवं विकराल हो सकता है यह मानव बुद्धि की कल्पना से भी बाहर की चीज है। सभी धर्मावलम्बियों, जैनधर्म, संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्वशान्तिप्रेमी, एवं युद्धविरोधी शक्तियों को मिलजुल कर कार्य करने की आवश्यकता है। जैनधर्म के सिद्धान्त एवं प्रयास विश्वयुद्ध को रोकने में सशक्त योगदान दे सकते हैं।

४. पर्यावरण विनाश— पर्यावरण की तेजी से बिगड़ती परिस्थिति भी मानवसमाज एवं अन्य जीवों के लिये खतरनाक दस्तक दे रही है। जलप्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, वनों का तेजी से कटना, विश्व में गर्मी का प्रकोप बढ़ना ये सभी मनुष्य जाति एवं अन्य जीवों के लिये बहुत अधिक हानिकारक हैं। आज धीरे-धीरे सम्पूर्ण मानव समाज विनाश की ओर बढ़ रहा है। ऐसे में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त उपकारी श्री वीर प्रभु ने षट्कायी जीवों की रक्षा करने का उपदेश दिया है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के पहले ही उन्होंने वनस्पति, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, जीव के अस्तित्व की घोषणा एवं उनकी सुरक्षा के उपाय बतला दिये गये हैं। जैनधर्म के पास पर्यावरण सुरक्षा का भी पूरा समाधान है।

५. धार्मिक सौहार्द की कमी— यह एक ऐसा पहलू है कि जिसके दो पक्ष हैं। धार्मिक सौहार्द की कमी सम्प्रदायवाद एवं धार्मिक संघर्ष को बढ़ावा देती है।

इतिहासकारों एवं चेतनाशील व्यक्तियों का कहना है कि जितने व्यक्ति धार्मिक उन्माद से मारे गये हैं उतने किसी बीमारी, प्राकृतिक विपदा से नहीं मारे गये। यह धार्मिक उन्माद धार्मिक मतभेदों के कारण धर्म के मौलिक स्वरूप को अतिभीषण क्षति पहुँचाता है। नास्तिक व्यक्तियों को भी यह कहने का मौका मिलता है कि धर्म करने वालों से हम ही अच्छे हैं। क्योंकि हम धर्म के नाम पर किसी से झगड़ा नहीं करते। जैन धर्म में भी धार्मिक मतभेद एवं परस्पर विद्वेष इन दिनों काफी बढ़ा है। महावीर का स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद का सिद्धान्त इन मतभेदों को दूर करने का कारगर उपाय है। कोई भी बात एकान्तरूप से सत्य नहीं होती है अत: दुराग्रह न करके तटस्थ भाव से वस्तुस्थिति को समझना चाहिये। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सहारा लेकर धार्मिक सौहार्द बढ़ाया जाना आवश्यक है। २१ वीं सदी में यह और भी अधिक आवश्यक होगा।

६. राजनैतिक उथल-पुथल— राज्य की अस्थिर व्यवस्था, कानून व्यवस्था की लचर स्थिति धार्मिक कार्यों या किसी भी अच्छे कार्य के लिये प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न करती है। २१ वीं सदी में राजनैतिक उथल-पुथल एक गम्भीर समस्या के रूप में मौजूद रहेगी। ऐसे में जैनधर्म के सिद्धान्त ही समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकेंगे। अहिंसा और सदाचरण जैसे जैन सिद्धान्तों का आश्रय लेकर वर्तमान राजनीति के गन्दे स्वरूप को दूर किया जा सकता है और स्वस्थ वातावरण बनाया जा सकता है।

७. वर्ग संघर्ष एवं उच्च-निम्न का भेद— जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्त में उच्च-नीच, जाति-पाँति, वर्णव्यवस्था, अमीर-गरीब, गोरा-काला आदि जैसा किसी प्रकार का भेद नहीं है। यहां कर्मवाद की प्रधानता है। आदमी के अच्छे-बुरे कर्म ही उसके भाग्य का निर्माण करते हैं। जैनधर्म में तीर्थंकर, चक्रवर्ती या गरीब किसी के बीच कोई भेद-भाव नहीं है। तीर्थंकरों को भी अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। यहाँ किसी के लिये कोई छूट, रियायत या पक्षपात नहीं है। उपरोक्त विषय पर जैनधर्म के सिद्धान्त अति उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

८. राष्ट्रों के बीच परस्पर अविश्वास— परस्पर अविश्वास एवं सन्देह ही आगे बढ़ते-बढ़ते युद्ध की विभीषका में परिणित हो जाते हैं। महावीर स्वामी के समय में भी हाथी एवं हार के लिये एक करोड़ अस्सी लाख आदमी मारे गये थे। इस प्रकार के परस्पर अविश्वास को जैनधर्म के सिद्धान्तों का अनुकरण करके दूर किया जा सकता है।

९. परमाणु हथियारों की होड़— द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी पर गिराये गये परमाणुबम से जापान का काफी विनाश हुआ था। आज उससे अनेक गुना शक्तिशाली बमों का निर्माण हो चुका है। अनेक प्रकार के भीषण परमाणु एवं रासायनिक हथियार भी आज मौजूद हैं जिनसे सम्पूर्ण मानव जाति को खतरा है। जैनधर्म के अहिंसक भाव से ही हथियारों की होड़ से छुटकारा मिल

सकता है।

१०. नई बीमारी का फैलाव— खान-पान में असंयम, अच्छे स्वास्थ्य के नियमों का उल्लघंन करना, यौनस्वच्छंदता, पाँचों इन्द्रियों पर संयम नहीं रखना ही नई बीमारी को आमन्त्रित करना है। सिफलिस, गोनोरिया, सूज़ाक, प्रमेह, एड्स, इत्यादि बीमारियाँ स्पष्ट रूप से अमर्यादित कुशील सेवन का ही परिणाम हैं। जैनधर्म के अनुसार इन्द्रिय संयम, आहार-संयम एवं सदाचारशील युक्त मर्यादित जीवन के नियमों का पालन करने से बीमारियों को नियन्त्रित किया जा सकता है।

११. व्यसन और फैशन में वृद्धि— यह आजकल की ज्वलन्त समस्या है। सप्त कुव्यसन का त्याग किये बिना कोई भी व्यक्ति जैनी तो बहुत दूर की बात है, सामान्य मनुष्य भी बनना मुश्किल है। पाश्चात्य सभ्यता, सिनेमा, टी०वी०, नये-नये फैशन ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। चाय, पान, गुटका, तम्बाखू, जर्दा, पानपराग, फास्टफुड, बीड़ी, सिगरेट, मादकद्रव्य, नशीली दवाईयाँ, मद्य-मांस आदि के सेवन से वर्तमान समय में दुर्व्यसन काफी बढ़े हैं। अतएव सभी धार्मिक संस्थाएँ व्यसनमुक्ति आंदोलन चला रही हैं। दृढ़ संकल्प के साथ कोई भी व्यसन छोड़ा जा सकता है। जैनधर्म में तो निर्व्यसनी जीवन को ही जीवन माना गया है। उसके अष्टमूल गुणों में व्यसनमुक्त होना एक अन्यतम गुण है। जैनधर्मी की पहचान भी यही है।

जैनधर्म में व्यसन से बचने की सुन्दर व्यवस्था है। सर्वप्रथम गुरु से पहली मुलाकात में ही सप्त कुव्यसन तथा मद्य, मांस और मधु का त्याग कराया जाता है। इस दृष्टि से २१वीं सदी में भी व्यसन और फैशन दूर करने में जैन धर्म का सर्वाधिक योगदान रहेगा।

१२. हिंसा में वृद्धि एवं मांसाहार प्रचार— यह भी पूरे विश्व की, विशेषकर भारत की गम्भीर रूप से बढ़ती हुई समस्या है। आजादी के पहले देश में ३०० कत्लखाने थे। आज उनकी संख्या ३६०० हो गयी है। इन दिनों मांसाहार प्रचार एवं जानवरों की हत्या बहुत बढ़ी है। जैनधर्म में मद्यमांस के सेवन को नरक जाने का प्रथम कारण बताया है। इस सम्बन्ध में जैनधर्म एवं सभी अहिंसा प्रेमी (अन्य धर्म के भी शाकाहारी) मिलकर प्रयास करें तो अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। धर्म का लक्षण मानवता है और मांसाहार दानवता का प्रतीक है। धार्मिक होने के लिए मांसाहार का वर्जन अत्यावश्यक होना चाहिए।

१३. परस्पर धार्मिक असहिष्णुता— इसका उल्लेख विषय ५ में किया गया है। चूंकि यह धर्म को विकृत करने वाला तत्त्व है, सभी धार्मिक सदगुणों को नष्ट करने वाला है। अतएव परस्पर सभी धर्मों के बीच अधिकाधिक तालमेल एवं सामञ्जस्य स्थापित किया जाना आवश्यक है।

१४. नैतिक मूल्यों की गिरावट— अत्याधिक लोभ और पाचों इन्द्रियों द्वारा अधिक से अधिक सुख पाने की लालसा नैतिक मूल्यों की गिरावट के लिये जिम्मेदार है। इससे मुक्त होने के लिए इन्द्रिय शमन, मर्यादित जीवन और आत्म संयम को प्रोत्साहन देना होगा।

हम जानते हैं, लोभ सभी पापों का बाप होता है। भौतिकता की चकाचौंध से बचना सरल नहीं होता। नैतिकता से पतित होने में वही मुख्य कारण है। जैनधर्म की आराधना इस कारण से हमें मुक्त करा देती है। २१वीं शदी में इस ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

१५. बढ़ती आबादी का बोझ— यह समस्या भी अनेक जटिल समस्याओं को जन्म देने वाली है। जैनधर्म इसके लिये शील सदाचार युक्त संयमित जीवन को प्रोत्साहन देता है। २१ वीं सदी में उपरोक्त विषय अधिक जटिल समस्या उत्पन्न करेगा। आत्मसंयम, कुशील सेवन की मर्यादा और आंशिक ब्रह्मचर्य द्वारा इस समस्या पर अंकुश लगाया जा सकता है। आज हमारी एक अरब की आबादी हो गई है। इसके बोझ को सहन करना अब सम्भव नहीं होगा। पर्यावरण-प्रदूषण भी इसी कारण बढ़ रहा है। जैनधर्म का ब्रह्मचर्याणुव्रत इस समस्या का निदान हो सकता है।

१६. शील सदाचार की कमी— यह विषय १५ का ही सहायक विषय है। शील सदाचार, श्रेष्ठ आचरण, श्रावक की मर्यादा, परस्त्रीगमन त्याग, स्वपत्नी संतोषव्रत एवं अणुव्रत का पालन इसके विभिन्न अंग हैं। जैनधर्म में इस विषय को बहुत महत्त्व दिया गया है। २१ वीं सदी में आचरण का पतन गम्भीर रूप धारण न कर ले इसके लिये सतर्क रहना आवश्यक होगा। पंचाणुव्रतों का परिपालन तदर्थ सहयोगी हो सकता है।

१७. अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद— वर्तमान युग में यह गम्भीर एवं दुःखदायी समस्या है। जैसे काश्मीर में पाकिस्तानी एवं आसाम में उल्फा उग्रवादी आतंकवाद को बढ़ावा देकर तोड़-फोड़ एवं गम्भीर अपराध कर रहे हैं। यह मानवीय मूल्यों के पतन की पराकाष्ठा है। जैन धर्म के दया, अनुकम्पा, सभी जीवों से मैत्रीभाव, क्षमा, तितिक्षा, हिंसा से निवृत्ति और पारस्परिक सद्भाव से उपरोक्त समस्या का निराकरण किया जा सकता है।

१८. टी०वी० एवं विदेशी चैनल— टी०वी० ने जितना संस्कृति का विनाश किया है उतना किसी और ने नहीं। पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभाव ने उपभोक्तावाद को प्रोत्साहन दिया है। फूहड़, अश्लील, काल्पनिक, वास्तविकता से परे और भोगवादी संस्कृति को बढ़ावा देने वाले सीरियलों, नाटकों एवं गाने में सदाचार युक्त भारतीय संस्कृति को अपरिमित एवं अपार नुकसान पहुँचाया है। उच्चआदर्श एवं मर्यादा से रहित विदेशी चैनलों ने तो जैसे शील-सदाचार को नष्ट करने का वीणा ही उठा लिया

है। इस सम्बन्ध में कठोर इन्द्रिय दमन-शमन एवं आत्मसंयम की आवश्यकता है। अपरिपक्व एवं कोमल बुद्धि वाले बच्चों को बचाया जाना आवश्यक है। जैन धर्म में इसके लिये चक्षुरेन्द्रिय संयम कर्णेन्द्रिय संयम एवं कठोर, आत्मानुशासन की व्यवस्था है।

१९. जैनधर्म के द्वारा बुराईयों पर अंकुश— तीर्थंकरों ने केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जैनधर्म की प्ररूपणा की है। प्रत्येक समस्या का समाधान इसके पूर्व भी १८ विषयों के समाधान में प्रस्तुत किया गया है। आत्मसंयम, आत्मानुशासन, इन्द्रियशमन, मर्यादित एवं सुसंस्कारित जीवन प्रणाली पर जैनधर्म निष्पक्ष रूप से निर्भीकतापूर्वक अपना जीवन दर्शन प्रस्तुत करता है। २१वीं सदी में इस जीवन-दर्शन द्वारा बुराईयों पर अंकुश लगाने में मदद मिलेगी।

२०. जैनधर्म की श्रेष्ठता— जैनधर्म अनादि काल से चला आ रहा है। यह पूर्ण सत्य एवं पूर्ण वैज्ञानिक धर्म है। इसमें कर्मवाद, अहिंसा, स्याद्वाद, या अनेकान्तवाद की जैसी सूक्ष्म एवं विशद् व्याख्या की गई है जो अन्यत्र दुर्लभ है। भूतकाल एवं वर्तमान युग में एवं आने वाले २१ वीं सदी एवं और भी आगे के समय इसकी उपयोगिता एवं प्रासङ्गिकता में कोई अन्तर आने वाला नहीं है। आत्मा को अपने मूल स्वभाव (निजी) में स्थिर करने की कला का नाम ही जैन धर्म है। प्रत्येक भव्य जीव में यह पात्रता होती है। केवल पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। इसके सिद्धान्त कालजयी, अपरिवर्तनशील, ध्रुव, अटल, शाश्वत एवं नित्य हैं। मूल सिद्धान्तों में कभी भी और कहीं भी कोई परिवर्तन नहीं होता है।

जैनधर्म परावलम्बन एवं भाग्यवाद को प्रश्रय नहीं देता है। जीव के अच्छे-बुरे कर्म ही उसके भाग्य का निर्माण करते हैं। कोई भी जीव अपने स्वयं के कष्ट-दुःख या सुख के लिये स्वयं पूर्णतः जिम्मेदार रहता है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा गया है।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य।। १/१५

अर्थात् अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा का दमन ही कठिन है। दमित आत्मा ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन जैन साहित्य में दमन शब्द का प्रयोग शमन अर्थ में ही हुआ है।

इस प्रकार आगे आने वाली इक्कीसवीं शताब्दी के भयानक वातावरण में जैनधर्म के सिद्धान्त निश्चित रूप से प्रासंगिक सिद्ध हो सकते हैं बशर्ते समूचा विश्व उन्हें तटस्थ रूप से समझने का प्रयत्न करे। जैनधर्मावलम्बियों का भी कर्तव्य है कि वे जैनधर्म का आदर्श रूप से परिपालन करें और उन्हें प्रचारित करें।

●

२१वीं शताब्दी में जैनधर्म की प्रासङ्गिकता

*श्रीमती उषा नाहर**

मानवीय चिन्तन सृष्टि के प्रारम्भ से ही सत्य की खोज के लिए चारों ओर गतिमान् रहा है। चिन्तन की विभिन्न धाराएं मानवीय विचारों के अनुरूप अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही हैं। चिन्तन का यह सतत् रथ सत्य की धुरी के चारों ओर घूमता रहा है। इस वीथिका का एक ही लक्ष्य है आनन्द की प्राप्ति और दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति। मानव उसी ऊहापोह में अपने दर्शन, साहित्य, कला और संस्कृति का बहु आयामी विवेचन करता रहा है। विवेच्य शक्तियों के मध्य जब वह ससीम से असीम, हिंसा से अहिंसा, असत्य से सत्य की ओर गमन करता है तब भी उसे शाश्वत मूल्यों की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। इसे हम सृष्टि की आदि से आज तक के जीवन का लेखा-जोखा कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारतीय संस्कृति की समग्ररूपता इसी बात में निहित है कि हम किस प्रकार से प्रर्वतक और निवर्तक धर्म में एक सामञ्जस्य स्थापित कर पाते हैं। निवर्तक धर्म में गृहस्थ धर्म का बन्धन नहीं होता था। वह गृहस्थ धर्म के बिना भी व्यक्ति को संन्यास की अनुमति देता था जबकि निवर्तक धर्म के जनव्यापी प्रभाव के कारण वैदिक प्रर्वतक धर्मानुयायियों ने चतुराश्रम व्यवस्था की कल्पना की थी। निवर्तक और प्रर्वतक धर्म का समन्वय हमें वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शन में मिलता है। वस्तुत: जैनधर्म ने भारतीय संस्कृति की धारा को समग्रता के उस स्वरूप की ओर मोड़ा है जहां वह विभिन्न विचारधाराओं के सङ्गमोपरान्त भी एक नई दिशा की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति को रखता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब जैनधर्म महावीर द्वारा पूर्व परम्परा के आधार पर विवेचित हुआ तब उसमें इहलौकिक जीव के साथ पारलौकिक सामर्थ्य की एक नई अनुभूति का स्वर आया और फिर कर्मस्थली से ज्ञान की वह धारा प्रवर्तित हुई जो आज भी मानवीय धरा को आप्लावित कर रही है।[१]

वर्तमान भौतिकवादी दृष्टि

आज की वैज्ञानिक विश्व दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में श्रम की प्रबलता और भौतिकवादी आकांक्षा ने मानव की आधारभूत कसौटी को ही प्रश्न के घेरे में ला खड़ा किया है। अनुशासन और आत्मानुशासन, ईमानदारी, शालीनता, सामूहिकता, नागरिक दायित्व

*. पार्श्वनाथ विद्यापीठ निबन्ध प्रतियोगिता में 'ब' वर्ग में तृतीय पुरस्कार विजेता; पता- १४४/४, बापूनगर, अजमेर, राजस्थान.

की भावना, सहृदयता, सत्यनिष्ठा, निडरता, आत्मबलिदान, सामाजिक सक्रियता, उत्तरदायित्व की भावना, भावनाओं की उदात्तता और शारीरिक परिष्कार बेशक चहुमुखी विकास के आधार स्तम्भ कहे जाते हैं। लेकिन इसकी चाहत भी आज मानव के लिए एक उस बिन्दु के समान है जो वृत्त की परिधि पर स्थित है जहां वह सोचने का प्रयास तो करता है परन्तु केन्द्र से उस बिन्दु की दूरी समान रूप से नहीं रह पाती। इसलिए वृत्त की अभिलाषा के बावजूद बढ़ नहीं पाती और मानव फिर ऋजुरेखीय गति किंवा वर्तुल गति को त्यागकर एक ऐसी रेखा में आबद्ध हो जाता है जिसे हम जीवन-मरण का चक्र कह सकते हैं।

२१ वीं शताब्दी काल की वह अवस्था है जो काल सतत् रूप से मानवीय विश्वासों को नये आलोक में उपघटित करने का प्रयास करता है। आधुनिक सदियों के प्रारम्भ में मानववाद मानव के समृद्ध विकास का दृष्टिकोण अपने साथ रखता है। २०वीं सदी के समर्थ जीवन के विचार से होने वाले परिवर्तित लोकप्रिय जीवन किस प्रकार से आधार बना कि जिसने १९वीं शताब्दी के नवजागरण के उपरान्त राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से भी २० वीं शताब्दी में किये गये अनेक परिवर्तन समवेत रूप में २१वीं सदी की देहरी पर आ खड़े हुए हैं। आज हिंसा के संत्रास, विज्ञान के विध्वंसक अभिलाषाओं के ताण्डव नृत्य और धरा के प्रदूषण की विभीषिका ने मानव के मन से शान्तिपूर्ण जीवन से भरा एक विश्वास खो दिया है। फिर भी केवल धर्म ही वह वस्तु है जो इन सब से हमें परे कर सकती है और जैनधर्म वास्तववादी और बहुतत्त्ववादी विचारधारा से आबद्ध कर देती है। व्यक्ति के निर्माण का पथ विविध और जटिल है। यह जटिलता जीवन में शुरू से अन्त तक रहती है। इसलिए मानव को निरन्तर अधिक से अधिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति की ओर बढ़ना चाहिए। मानव जीवन अपने आप में मूल्यवान् है इसलिए विज्ञान और प्रविधि के इस बहुआयामी आलोक में जैनधर्म के निम्न सिद्धान्त मानवता को जन्म देकर उसे स्थायी बना सकते हैं।

१. अनेकान्तवाद

विश्व का प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्त धर्मों का भण्डार है। यह अपनी अनादि अनन्त सिद्धि की दृष्टि से नित्य है। किसी भी कण का विनाश नहीं हो सकता परन्तु प्रत्येक कण प्रतिक्षण बदल रहा है। जैन चिन्तन पदार्थ के गुण-धर्म में दृश्य-अदृश्य परिवर्तन को स्वीकार करता है। पदार्थ अनन्त धर्मात्मक हैं, पर सर्वधर्मात्मक अनन्त धर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे और अचेतनगत अनन्त धर्म अचेतन में चेतन के गुण-धर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में। इसलिए जैन धर्म का अनेकान्तात्मक दर्शन केवल व्यावहारिक दृष्टि से समाज में एक समझौता तत्त्व ही नहीं देता है, बल्कि वस्तु स्वतन्त्रता के आधार पर यथार्थ

तत्त्व ज्ञानमूलक समन्वय दृष्टि की प्रतिष्ठा भी करता है। जैनदर्शन की यह चिन्तन पद्धति पदार्थों से प्रारम्भ होती है और अनेक धर्मात्मक पदार्थों के साथ अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में आचार्य अकलङ्कदेव ने वस्तु के वस्तुत्व में इसी विधि को स्पष्ट किया है और अस्ति और नास्ति जैसे भिन्न धर्मों से उसे व्याख्यायित भी किया है।[२]

आज मानव मानव के मध्य वैचारिक अहम् भाव अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। इस स्थिति में सहिष्णुता की कल्पना करना भी भयावह प्रतीत होता है। वह 'ममं सत्यम्' के आधार पर जीवनशैली को स्वीकार करता है जब कि महावीर स्वामी ने कहा था— 'जहासुहं' अर्थात् तुम्हें जैसा सुख मिले वैसा करो। यहां सुख से अभिप्राय भौतिक सुखों या इन्द्रिय सुखों की ओर परिगमन नहीं वरन यह उस सुख की ओर संकेत करता है जो हमें भौतिक सुखों से निवृत्ति दिलाता है। यह कैवल्य की अवस्था का द्योतक है। जैनदर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है और २१ वीं शदी में जब सामाजिक चिन्तन धाराएं एकांगी दृष्टि से सोचेंगी तब प्रत्येक व्यक्ति का मत स्वीकार्य है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टि से लिखता है और इसका आधार उसके दृष्टि कोण और स्थिति पर निर्भर करता है। वस्तुत: जैनधर्म का यह अनेकान्त दर्शन वस्तु की सीमा को लांघना चाहता है। वस्तु तो अपने स्थान पर अपने स्वभाव द्वारा प्रतिष्ठित है। जैन दर्शन वास्तववादी और बहुतत्ववादी है। वह पृथक्-पृथक् सत्तावादी वस्तुओं के व्यवहार के लिए वस्तु की निजी मर्यादा को नहीं लांघना चाहता। यह सिद्धान्त वन्दनीय है २१वीं सदी के इस अन्तिम पड़ाव के अवसर पर।[३]

डॉ० राधाकृष्णन् ने धर्म के सन्दर्भ में वर्तमान संकट को उल्लेखित करते हुए कहा था कि आज संसार दोराहे पर खड़ा है उसके समक्ष दो विकल्प हैं— सारे संसार का एकरूप में संगठन या समय-समय पर होने वाले युद्ध। इसलिए वह सभ्यता जो अभी हाल तक अपनी प्रकृति में आनन्द अनुभव करती थी और मानवता किसी यन्त्रणा से पीड़ित है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह इतिहास के किसी दुर्निवार प्रक्रिया द्वारा अपने विनाश की ओर खदेड़ी जा रही है। सृजन के काल कष्टों के काल हुए हैं।[४]

वस्तुत: राधाकृष्णन् ने इस बात की ओर इंगित किया है कि भले ही अनेक रुकावटें और अड़चनें आयें परन्तु यह सुनिश्चित है कि मानव जाति अपेक्षाकृत अधिक विवेकपूर्ण संसार की ओर बढ़ेगी। अनेक रचनात्मक प्रयोग, जिनके द्वारा जाति की मुक्ति हो सकती है वह मन के एकाकीपन से नहीं वरन मन के सर्वांगीण विकास की भावना से ओतप्रोत होंगे और ऐसा तभी सम्भव है जब हम जैन चिन्तन के अनेकांतवाद के इस भाव को स्वीकार कर लें कि सभी व्यक्तियों के मत सभी दृष्टियों से उचित हैं। २१वीं सदी के अन्तर्गत वैचारिक स्वतन्त्रता का इससे और अधिक साधन मिलना असम्भव

है। किसी भी सभ्यता का स्वरूप इस बात पर आधारित है कि मानव की प्रकृति और भवितव्यता के विषय में उसकी क्या धारणाएं हैं। बुद्धि के पार्थिव प्रकाश को वे प्रतिफलित करते हैं जो संवेदनाओं से परिपूर्ण हैं। जैनधर्म स्याद्वाद के माध्यम से अपनी चेतना को सर्वत्र उद्वेलित करता है। एक ही वस्तु में विभिन्न अपेक्षाओं से विविध धर्म रह सकते हैं। एक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। द्रव्य दृष्टि से इसमें किसी वादी का विवाद भी नहीं है।

मानव की भवितव्यता और उसका जीवन के प्रति सदियों का समर्पण उसे चेतना की उस देहरी पर ला खड़ा करता है जहाँ वह जितेन्द्रिय होकर दु:खों से निवृत्ति प्राप्त कर लेता है। इसी विषय में शेक्सपीयर ने कहा है—

किन्तु मनुष्य अभिमानी मनुष्य
अपने तुच्छ और क्षुद्र अधिकार से भरा
उसका उसे सबसे अधिक निश्चय है
उसी के विषय में सबसे अधिक अज्ञानी
उसका भङ्गुर सार एक कुन्द वानर की भाँति
उच्चस्वर्ग के सम्मुख ऐसी विचित्र करतूतें करता है
कि देखकर देवदूतों को रोना आ जाए।

भारतीय जीवन की यह विभिन्नता और मानव की यह जिज्ञासा २१वीं सदी में जैन चिन्तन की दार्शनिक प्रवृत्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है।

२. अहिंसा

जैन चिन्तन हिंसा से अहिंसा की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त करता है। आज मानव मन और वचन से हिंसक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर हो रहा है। मन की दुर्बलता ही व्यक्ति को हिंसावादी बनाती है क्योंकि मानव तब वाक्यविन्यास द्वारा या फिर बाहरी बल के द्वारा हिंसक प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आने वाला कल वर्तमान के सन्त्रास और तनाव में घुटी हुई मानसिकता को और अधिक प्रदीप्त करेगा जिससे उद्दीपन की भावनाएं उद्वेलित हो उठेंगी। तब आज जो अपराध हैं कल और बढ़ेंगे। हिंसा की जो घटनाएं आज सीमा को लांघकर परे पहुंच रही हैं वे अमानवीयता के धरातल तक पहुंच चुकेंगी क्योंकि तब मानव-मानव के बीच स्नेह और प्रेम का सूत्र यांत्रिकता की दौड़ में कट जाएगा। तब मानव मन हिंसा की विभिषिका में और उतर जाएगा। यह कोई वास्तववादी दृष्टिकोण नहीं है वरन आने वाले कल की सम्भावनाएँ हैं। इनका आधार वर्तमान की नींव पर पूरा होगा। राष्ट्रों के बीच बढ़ती हुई आणविक यौद्धिक क्षमताएं मानव को निरन्तर स्वच्छन्दता और सत्ता

के प्रति अधिक निकट ला रही हैं। जैनचिन्तन की मेधा के पास इसका सफल उपादान और निदान है। हिंसा या सताना, दण्ड या सजा से भिन्न वस्तु है। हिंसा से निर्दोष व्यक्ति को चोट पहुंचती है। दण्ड अपराधियों के अपराधों को वैधरूप से रोकथाम करता हैं। जहाँ अहिंसा सम्भव न हो वहां हिंसा की अनुमति दी तो गई है लेकिन यह वहीं सम्भव है जब इसका निर्णय हो जाए कि अब अहिंसा पर भी अतिक्रमण हो रहा है। महात्मा गांधी ने डंडी मार्च के समय इस नियम को स्वीकार किया था केवल मानसिक हिंसा के साथ जब उन्होंने नमक के कानून को तोड़ने की यात्रा की। डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं पूर्ण अच्छाई की आकांक्षा और पूर्ण आदर्श को दूषित करने वाले आंशिक कार्यों को करने की आवश्यकता में कुछ विरोध हो सकता है लेकिन हमें पूर्ण अहिंसा के सर्वोच्च आदर्श और उन वास्तविक परिस्थितियों के बीच में जिनमें हमें अपूर्ण साधनों के सहारे आत्म आदर्श तक पहुंचना है, मार्ग निकालना होगा। विभिन्न धर्मों के मध्य जैनधर्म हिंसा के प्रतिरोधों का प्रबल समर्थक रहा है। यह विरोध केवल भौतिक दृष्टि से नहीं अपितु आन्तरिक शक्तियों के द्वारा ही स्वीकार किया गया है जहां आत्मिक बल मानसिक और शारीरिक हिंसा का विरोध करता है। सामाजिक प्रक्रिया में आदर्शों के प्रति निष्ठा और दुर्निर्निष्ठ दिशा में प्रेरित करने के लिए अहिंसा मन को पवित्र करती है। विचारों को धवल करती है। सीमित से असीमित की ओर ले जाती है और व्यष्टि से समष्टि की ओर गमन करती है। अपने दीर्घकालीन इतिहास के विभिन्न युगों में परस्पर विरोधी दिशाओं के बाद भी आज भारत की समन्वयात्मक एकता और अखण्डता उन समस्त विभिन्नताओं से ऊपर है। भारत की अहिंसात्मक प्रवृत्ति ने ही भारतीय ध्वजा को विश्व में फहरा दिया। इसी का परिणाम संयुक्तराष्ट्र संघ की उस घोषणा में निहित है जहां सभी व्यक्तियों को जीने का हक मिला है। उसने सभी विचारों की स्वतन्त्रता की रक्षा की है। सभी को अपना मार्ग प्रशस्त करने की स्वतन्त्रता है। गुलशनेराज के लेखक शहाबुद्दीन मोहम्मद शबस्तरी जिनकी मृत्यु १३२० ई० में हुई थी, कहते हैं कि दुनियां में प्रेम सभी हिंसाओं का तोड़ है। यही तोहिद (अद्वैत) विचार है। संसार के सभी क्षेत्रों में स्नेह और प्रेम का आलम्बन ही मानव को हक की ओर ले जाता है। इसलिए २१ वीं सदी के लिए जो सर्वाधिक चुनौतियों की शताब्दी है, में अहिंसा वह अमोघ अस्त्र है जिसके माध्यम से हम व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य वैज्ञानिक शोधों के कारण जो सुविधाएं प्राप्त हुई हैं, एक आत्मिक सम्बन्ध को स्थापित कर पायेंगे और मानव भविष्य में सहअस्तित्व द्वारा भातृत्व की कल्पना के साथ अपने जीवन को स्नेह और प्रेम के साथ उन ऊँचाईयों की ओर ले जाएगा जिनमें वह स्वयं ही प्रफुल्लित नहीं होगा वरन् समाज और राष्ट्र को भी सुवासित कर सकेगा।

३. आध्यात्मिक साधना

ई०एल० प्रेट ने ठीक ही कहा है कि असभ्यता पशुओं को सताने और उनकी

हत्या करने की स्वीकृति का कारण बनती है। असभ्यता के कारण ही व्यक्ति दूसरे पशुओं की हत्या को अपनी शारीरिक प्रक्रिया में लेता है। यह विष मस्तिष्क को, नैतिक आदर्शों और इच्छा शक्ति को दुर्बल करता है। यह विष सबके लिए ऐसी लालसा पोषित करता है जो नष्ट धर्मी है। वस्तुत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नैतिकता मानव के लिए सवर्तोभावेन मार्ग को प्रस्तुत करती है, जहाँ व्यक्ति बन्धन से मुक्ति की अवधारणा में आस्था रखता है। जैनधर्म का आदर्श मोक्ष है और मोक्ष अनन्तचतुष्ट अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है। जीवन के ज्ञानात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त ज्ञान एवं दर्शन में, जीवन की भावात्मकता या अनुमूल्यात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त सौख्य में और संकल्पात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त शक्ति में निहित मानी गई है। जैन साधना चेतन के इन्हीं तीन आयामों पर निर्भर है। ज्ञान, भाव और संकल्प के साथ **'सम्यक्'** विशेषण का प्रयोग करके उन्हें निर्मित किया गया। ज्ञान से सम्यक् ज्ञान, भाव से सम्यक् दर्शन और संकल्प से सम्यक् चरित्र का निर्माण हुआ है। नैतिक आचरण का आधार ही यही है कि मानव जो आचरण स्वीकार नहीं करता है वे अन्य के द्वारा भी किये जाने पर स्वीकार्य नहीं हो सके। आज आचरण एक व्यक्ति के लिए उपादेय है। वही आचरण सभी मनुष्यों के लिए स्वीकार्य होना चाहिए और जब सभी मनुष्य नैतिक आचरण को स्वीकार करते हैं तो समाज में अनेकता का तो अस्तित्व ही नहीं हो सकता। नैतिकता की पराकाष्ठा आत्मपूर्णता में स्वीकार की गई है। जैन दर्शन में साध्य और साधक में अभेद माना गया है। **समयसारटीका**[७] में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि परद्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है। आकांक्षाओं और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाली आत्मा ही मोक्ष कही गयी है। यहाँ पश्चिमी चिन्तक बेडले का कथन भी दृष्टव्य है जहां वे चेतना को अनन्त धर्मी मानते हैं और अनन्त धर्मों में नैतिकता का सूत्र कर्म की कुक्षि से पैदा हुआ है। जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है। आत्मा का बन्धन सत्य ज्ञान के प्रति भ्रम के कारण पैदा होता है जो उसे निरन्तर असत्य कर्म की ओर प्रेरित करता है और तब व्यक्ति अकर्मशील होकर बन्धन में फंस जाता है।[८] २१ वीं शताब्दी के इस अवसर पर मानव के अन्तर्गत जीवनशैली में आने-जाने वाला बदलाव अनेकता का कारण है जिससे स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार, राष्ट्रद्रोह, अमानवीयकृत्य जैसे असदाचरण उत्पन्न होते हैं। इसलिए जैनदर्शन ने सम्यक् चिन्तन का मार्ग प्रकट किया। यह चिन्तन तीन बातों पर आधारित है—

१. स्वयं को जानो।

२. स्वयं को स्वीकार करो।

३. स्वयं ही बन जाओ।

ये तीनों सूत्र ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही पर्याय हैं। उपनिषदों में इन्हें ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहा गया है। गीता में यह प्रतिप्रश्न और सेवा है। निश्चय दृष्टि से यह सम्यक् चरित्र का प्रधान कारण है। आगामी स्थिति में जब मानव दोषों के परिपूर्ण साम्राज्य में आकुल हो उठेगा तो उसे नैतिकता के उस मार्ग का अवलम्बन करना होगा जो उसे सुख और शान्ति की ओर अभिप्रेरित कर सके। यह मार्ग संन्यासी के लिए ही नहीं अपितु गृहस्थ के लिए भी उतना ही स्वीकार्य और अनुकरणीय है। परिस्थितियों से चित्त को विशोभित न होने देना यही सम्यक् साधना का लक्ष्य है। जैन चिन्तन-परम्परा में साधक ऐसी मन:स्थिति को प्राप्त कर लेता है जब उसका चरम साध्य कैवल्य से परिपूरित हो जाता है।[९]

४. नैतिकता

यह प्रश्न बड़ा भयावह है कि यदि आगामी शताब्दी में मानव अनैतिक हुआ तो क्या होगा। कोई किसी के वचन को नहीं समझेगा तो क्या होगा? किसी कानून का पालन नहीं होगा तो क्या होगा? क्योंकि नित्य प्रति कानूनों और नियमों की धज्जियां वे लोग सबसे अधिक उड़ाते हैं जिनके पास यह अधिकार है कि वे उसका संरक्षण करेंगे। महात्मा गांधी ने इसीलिए दिव्य पथ का उपदेश किया जो जैनदर्शन के सन्निकट है। उन्होंने निर्भीक भावना, अजेय इच्छा शक्ति, सत्य और न्याय के प्रति अति मानवीय उत्साह का उन्नायक और प्रेरणाप्रद आदर्श प्रस्तुत किया। शाश्वत इच्छा का मार्ग नैतिकता के पथ से गुजरता है और उसका बटोही वही होता है जो आत्मबली होता है। इसलिए जैनधर्म नैतिकता के माध्यम द्वारा आत्मबल से संसार को विजय करने का लक्ष्य रखता है। इसीलिए महावीर स्वामी जिन कहलाये और उनके अनुयायी जैन।

५. शाकाहार

आहार शुद्धि से सत्य शुद्धि है। यदि आहार शुद्ध नहीं होगा तो मन शुद्ध नहीं होगा। मन की विकृतियों का कारण आहार में अपवित्रता का प्रवेश है। आहार द्वारा मानव मन में सुकोमल भावना ही प्रदीप्त नहीं होती वरन उनका प्रयोग करना भी व्यक्ति सीखता है। जैन चिन्तन में आहार विवेक में पहला दृष्टिकोण अहिंसा का है और दूसरा दृष्टिकोण है स्वस्थ रहने का। प्राणिमात्र सुख चाहता है किन्तु सुख केवल शारीरिक तुष्टि में नहीं, आत्मा की उत्कृष्ट अवस्था में निहित है। भारतीय संस्कृति में धर्म साधना का प्रधान कारण शरीर को माना गया है क्योंकि यह संस्कृति अध्यात्म प्रधान रही है और इसमें वैदिक संस्कृति के अनुरूप ही अहिंसा का जो आलम्बन किया गया उसमें आहार पर विशेष बल दिया गया है और वह भक्ष-अभक्ष के कारण है। जैन धर्म २१ वीं शताब्दी में आहार के लिए एक विशिष्ट उपालम्ब प्रस्तुत करता है। मानव जितना प्रकृति से दूर होगा उतना ही वह बीमारी के निकट पहुँच जाता है। हमबोल्ट जैसे विद्वान्

ने ठीक कहा है कि दस आदमियों के निर्वाह योग्य मांस की प्राप्ति के लिए जो पशु पालन होता है उसमें यदि अन्न उपजाया जाये तो उनसे १०० आदमियों के निर्वाह योग्य भोजन प्राप्त होता है। महात्मा गांधी ने इसलिए कहा था कि मनुष्य जाति के लिए मांसाहार अनुपयुक्त है।[१०] अगर हम पशुओं से अपने को ऊँचा मानते हैं, तो फिर उनकी नकल करने में भूल करते हैं। यह बात अनुभव सिद्ध है कि जिनकी आत्मा संयमनिष्ठ हो उनके लिए मांसाहार अनुपयुक्त हैं।[११] नश्वर शरीर को सजाने और उसकी उम्र बढ़ाने के लिए हम अनेक प्राणों की बलि देते हैं, उससे शरीर और आत्मा दोनों का हनन होता है। इसलिए शाकाहारी जीवन, जो प्रकृति के निकट मनुष्य को लायेगा, जिससे प्रकृति और मानव के बीच संतुलन होगा, यह २१वीं सदी की देन होगी।

सभ्यता के नये उत्थान और २१ वीं सदी की चुनौतियों के बीच जैनदर्शन ही नये कर्त्तव्यों और बोधों के साथ मानव के कल्याण पथ का प्रदर्शक बन सकेगा। इसमें दो राय नहीं है। जैन चिन्तन का बहुआयामी व्यवहार मानव को स्वदेशी और प्रेम द्वारा अकल्याण से कल्याण की ओर ले जाने में समर्थ है। आशा का मार्ग यदि २१वीं सदी में कहीं प्रस्तुत होगा तो वह जैनधर्म की चिन्तन परम्परा से ही होगा। इसलिए जैनधर्म प्रासंगिक ही रहेगा।

१. **भारतीय जन-जीवन : चिन्तन के दर्पण में,** खण्ड-२, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार १९९५ ई०.

२. **तत्त्वार्थवार्तिक,** ५/३२.

३. डॉ० वी०वी०रायनाडे, **भारतीय दार्शनिक निबन्ध,** मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ आकादमी, भोपाल १९८३ ई०, पृ० २६०.

४. डॉ० राधाकृष्णन्, **धर्म और समाज,** राज्यपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९६३ई०, पृ० ९ व सी०जी०जूंग, **मॉडल मेन इन सर्च ऑफ ए सोल,** पृ० २३०- २३१.

५. **भारतीय दार्शनिक निबन्ध,** पृ० २६३.

६. डी०आर०जाटव, **सामाजिक एवं मानववादी विचारधारा,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर १९९७ ई०, पृ० १९२.

७. **समयसार टीका,** अमृतचन्द्र, गाथा ३०५

८. **कर्म ग्रन्थ,** पृ० १.

९. **भारतीय दार्शनिक निबन्ध,** पृ० २९४-९५

१०. **हरिजन,** ३० जुलाई १९३५.

११. **जैन जगत्,** १९७३, पृ० १२७.

102733
18-12-2007

Library IIAS, Shimla
H 294.8 B 469 I
00102733